ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका (अष्टमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक ८, अक्टूबर २००७



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404



गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (अष्टमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक ८, अक्टूबर २००७



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

एक प्रति का मूल्य रु० ७५.००

वार्षिकमूल्य रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्च-वार्षिकमूल्य रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा पुस्तकालयाध्यक्ष के नाम धनादेश प्रेषित करें।)

परामर्शदात्री समिति

विषयानुक्रमणिका

अथर्ववेद में सामान्य यज्ञ का स्वरूप

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[1]

भारतीय मनीषा ने जिस विषय का सर्वाधिक गम्भीर चिन्तन, मनन और प्रयोगात्मक रूप में प्रतिष्ठित किया है, उसका नाम यज्ञ है। इस यज्ञ में अध्यात्म से लेकर संसार के समस्त विषय समाहित हुए हैं, ऐसा कुछ भी नहीं है, जो यज्ञ में आत्मसात् न हुआ है। वैदिक जीवनदर्शन का प्रारम्भ भी यज्ञ है और उसका अवसान भी एक यज्ञ ही है। तभी तो वेद का ऋषि यज्ञ को भुवन की नाभि कहता है।[2] अथर्ववेद का मन्त्रदृष्टा ऋषि कहता है-

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥[3]

अग्नि ही यज्ञ का चक्षु है, वही यज्ञ का प्रारम्भ है और वही उसका मुख है। ऐसे अग्नि में वाणी से मैं मन्त्र का उच्चारण, श्रोत्र से उसका श्रवण तथा पूर्ण मनोयोग से आहुति देता हूँ। इस यज्ञ को विश्वकर्मा देव ने उत्पन्न किया है, अतः देवगण प्रसन्न होकर इस यज्ञ में आयें।

उपर्युक्त मन्त्र से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उक्त मन्त्र का देवता विश्वकर्मा है, इससे यह विदित होता है कि समस्त कर्म यज्ञ में समाहित हैं।[4] इस यज्ञ का चक्षु अर्थात् चक्षु के समान पथ प्रदर्शन करने वाला यदि कोई है तो वह अग्नि है, और उसका प्रारम्भ अग्निस्थापनपूर्वक होता है, अतः अग्नि ही उसका प्रभृति है तथा यह अग्नि ही है, उस यज्ञ का मुख है। ऋग्वेद में कहा गया है-**'त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।'**[5] मुख का अर्थ मुख्य भी किया जा सकता है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि अग्नि ही

---

१. सम्पादक गुरुकुल-शोध-भारती, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. ऋ०१.१६४.३५.

३. अथर्व०२.३५.५

४. सायणभाष्य, अथर्व०२.३५.२ विश्वं कर्म करणीयं यस्य स प्रजापतिः।

५. ऋ०२.१.१३

६. सायणभाष्य, अथर्व०२.३५.५ यद्वा मुखमिव मुख्यः सर्वदेवताना प्रयाजादिषु प्रथमयष्टव्यत्वात्।

देवताओं का प्रथम मुख है।[७] कहने का आशय यह है कि यज्ञ अग्निमय है। जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ यज्ञ का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं है कि यज्ञ के लिये भौतिक अग्नि ही होना चाहिये, यह आध्यात्मिक भी हो सकता है। इसलिये मन्त्र में ऋषि मन से आहुति देने के लिये कहता है।

उक्त सूक्त के मन्त्रदृष्टा ऋषि अङ्गिरा का यज्ञदर्शन कहता है कि जो यजमान (यज्ञपति)·निर्भक्त यज्ञ का यजन करता है, वह पापी है। इस कारण उसकी प्रजा (सन्तान) सन्तप्त रहती है। उसने जिन सोमरस युक्त (मधव्य) आहुतियों का व्यवधान किया है, उसको विश्वकर्मा संयोजित करें।[८] जिस प्रकार संग्राम में वीर पुरुष अपने भुजबल के अभिमान से अन्य योद्धाओं का तिरस्कार करता है, उसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड का अभिमान रखने वाला विद्वान् अन्यों को सोमपा न मानते हुए अज्ञानवश तिरस्कार करता है, इससे वह पाप का भागी हो जाता है, विश्वकर्मा इसे उस पाप से मुक्त कर दे।[९]

उपर्युक्त विवरण से यह विदित होता है कि यज्ञ का आधार अग्नि और उसका लक्ष्य सम्पूर्ण कर्म हैं, जो कुछ भी कर्मजात है, वह सब यज्ञ में समाहित है। **प्रथम**-इस यज्ञ को मन, वाणी और कर्म में एकरूपता रखते हुए सम्पन्न करना चाहिये। **द्वितीय**-निर्भक्त यज्ञ का यजन करने से एनस् की प्राप्ति होती है, अतः हव्यरहित यज्ञ का यजन नहीं करना चाहिये। **तृतीय**-यज्ञ करते समय यजमान अथवा ऋत्विज् को अहंकार भी नहीं करना चाहिये।

अथर्ववेद कहता है कि क्रान्तप्रज्ञा ऋषिगणों ने विविध रूपों को धारण करने वाले जगत् का आच्छादन करने वाले तीन छन्दों को पहिचाना है। ये तीन छन्द हैं-**'आपो वाता ओषधयः'** जल, वायु और ओषधि। ये तीनों एक ही भुवन में स्थित हैं।[१०] इनमें से प्रथम छन्द की प्राप्ति का उपाय बताते हुए वेद कहता है कि कामनाओं की वर्षा करने वाला महान् तथा किसी भी अन्य शक्ति से अभिभव न किया जा सकने वाला अग्नि दोहन के साधन यज्ञ द्वारा द्युलोक से पयस् का दोहन करता है। जिस प्रकार वरुणदेव अपनी बुद्धि से सब कुछ यथावत् जानता है, उसी प्रकार यथावत् जानता हुआ यज्ञिय पुरुष यजनीय ऋतुओं पर यष्टव्य देवों का यजन

---

७. ऐ०ब्रा०१.४ अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्।

८. अथर्व०२.३५.२ यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्। मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥

९. अथर्व०२.३५.३ अदान्यान् सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः। यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये॥

१०. अथर्व०१.१८.१७ त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्। आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि॥

करता है।[11] यष्टव्य देवों के काल का संकेत करता हुआ अथर्वा ऋषि कहता है कि जिस समय पक्षियों का आनन्ददायक कलरव होता है, जिस वेला में उषा मनुष्यों के लिये समस्त सुख और सम्पदा लेकर आती है, उस समय देवों का आह्वान करने वाला यजमान यज्ञ के लिये अग्नि को उत्पन्न करता है।[12]

उपर्युक्त विवरण से यह विदित होता है कि जल की प्राप्ति के लिये यज्ञ किया जाता है। द्युलोक से जलदोहन करने का साधन यज्ञ है। मैत्रायणी संहिता स्पष्ट रूप से कहती है कि वह यज्ञ से क्या यजन करता है, जो गौ के समान यज्ञ का दोहन नहीं करता है, यज्ञ बड़ी सरलता से दोहन योग्य गौ है।[13] इस प्रकार वैदिक काल में समस्त कामनाओं की प्राप्ति का साधन मानते हुए यज्ञ को गौ के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट होता है कि ऋत्विज् को वरुणदेव के समान यज्ञविद्या का मर्मज्ञ होना चाहिये। जहाँ तक यज्ञ के काल का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में अथर्ववेद की मान्यता है कि जिस समय पक्षी कलरव करते हैं और उषा का उदय होता है, वह यज्ञ का काल है। इस प्रकार प्रात:कालीन वेला यज्ञ के लिये आदर्श समय है।

---

११. अथर्व०१८.१.१८वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः। विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून्॥

१२. अथर्व०१८.१.२० सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती। यदीमुशन्तमुशतामनु ऋतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥

१३. मै०सं०१.४.५ किमु स यज्ञेन यजेत, यो गामिव यज्ञं न दुहीत, (यज्ञः) सुदोहतरो हि गौः।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०४-७)

वर्तमानसन्दर्भे पाण्डुलिप्याः प्रासङ्गिकतोपादेयता च

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री[1]

प्राक्कालादेव विद्याप्रचारस्य साधनद्वयमासीत्। प्रथमं साधनं श्रवणं श्रावणं पठनं पाठनं वा, द्वितीयं साधनं लेखनादिकम्। सकृदेव श्रुतं व्यपगते काले न पुनस्त्वरया स्मृतिपथमारोहति। यस्मात् श्रुतमासीत् सो यदि चक्षुषामगोचरस्तदा पुनस्तत्सम्पर्काभावात् पुनः श्रवणकार्यमपि न प्रसिद्ध्यति। यद्यपि प्राक्काले मानवानां सर्वाणि कार्याणि प्रायशः श्रुतिपरम्परयैव प्रचलन्ति स्म। आद्यानामृषीणां प्रज्ञा विलक्षणधारणाशक्तिसम्पन्ना आसीत्, परं शनैः शनैः धारणाशक्तेः क्रमिको ह्रासो जातः। अत एव पुनर्विद्यावबोधाय ज्ञानविस्ताराय लेखनप्रक्रियायां मानवानां समुत्पन्नो विचारः। भगवता निरुक्तकारेण यास्काचार्येण लेखनपरम्परोन्मेषविषये यल्लिखितं तदतीव रम्यं सर्वजनहृदयग्राह्यञ्च विद्यते यथा-**'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।'**[2]

एतेन ज्ञायते यत् लेखनपद्धतिः श्रुतिपद्धतेरुत्तरवर्तिनी विद्यते लेखनक्रमो लिपिमाश्रित्य प्रवर्तते, स च लेखनक्रम एकस्माद्वाक्यादारभ्य बृहद् ग्रन्थान्तं प्रयाति। एकः प्रश्नः समुदेति प्रचेतसां चेतसि यत् लिखिता ग्रन्थाः कथं भवन्ति लिपिपदवाच्याः। महर्षिणा अष्टाध्यायी नामकग्रन्थनिर्मात्रा श्रीमता पाणिनिमहोदयेन उणादिकोषे लिपिपदार्थविषये यल्लिखितं तदेव सचेतसां जिज्ञासा शमनायालम्। 'इगुपधा कित्'[3] सूत्रं विलिख्य लिपिविषये कथयति यत् लिम्पतीति लिपिः, लेखो वा अर्थात् लिम्पनक्रियासम्पन्ना वर्णाक्षरमाला लिपिर्भवति लिपिरेव लेखपदेन प्रोच्यते। बाहुलकात् बत्वे लिबिः इत्यपि भवति। लिबि करोतीति लिबिकरः। लिपिपदमपि लिप्यर्थे पठ्यते। एतेन प्रतीयते यत् प्राक्काले लेखस्य कृते लिपिपदं लिविपदमपि पठ्यते स्म। अक्षरमाला येनाप्यार्द्रीभूतेन द्रव्येणानार्द्रीभूतेन द्रव्येण वा लिम्पनक्रियामाप्नोति तद्वर्णवती सा लिपिर्भवति, यो लिख्यते स तु लेखो भवति अर्थात् भावं विषयं यः प्रकटयति स तु लेखो निगद्यते परं यथा आकारप्रदायिन्या लिम्पनक्रियया भवति स लेखः साकारः सा लिपिरिति पठयते। वर्तमाने यथा लेखो वा लिपिर्वा एकार्थं बोधयतः प्राक्कालेऽपि द्वयोरपि प्रवृत्तिरेकार्थज्ञापिकैव विलोक्यते स्म।

संस्कृत वाङ्मयस्याध्ययनेन ज्ञायते यद् मानवानां पूर्वाविर्भावो यत्राभूत् तत्रैव पूर्वतमानामृषीणां

---

१. प्रोफेसर संस्कृत, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. निरुक्त अध्याय १ खण्ड २०

३. उणा०४.१२१

मुखारविन्दाद् ब्राह्मी वाक् प्रासरत्। यतो वाक् प्रासरत् तत एव लिपिरपि स्वरूपं प्रकटितवती। मानवोत्पत्तिविषये पठ्यते यत् त्रिविष्टपस्थली मानवप्रसवभूरभूत्। धातूनां लेखनोपयुक्तगैरिकधातूनां च हिमालय एव आकरः। भूर्जपत्राणि हिमालये प्राप्यन्ते तेषु भूर्जपत्रेषु लिपिबद्धान्यक्षराणि लिख्यन्ते स्म। महाकविना कालिदासेन कुमारसंभवमहाकाव्ये हिमालयवर्णनप्रसङ्गे लिखितं यत् हिमालये निवसन्त्यो विद्याधरसुन्दर्यो भूर्जपत्राणि साक्षराणि विधाय अनङ्गलेखक्रियां सम्पादयन्ति स्म। यथा -

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।

व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्।।[४]

प्राक्काले कायकान्तिपरिवर्धनार्थं नार्यो नूनमेवाङ्गरागं शरीरे धारयन्ति स्म। तेनाङ्गरागेण लेखनक्रियापि सम्पाद्यते स्म। अभिज्ञानशाकुन्तले महाकविः कालिदासो नृपतेर्दुष्यन्तस्य प्रशस्तिविषये कथयति यद्देवाः स्वसुन्दरीणामङ्गरागावशिष्टेन भागेन गीतमिव गेयं तच्चरितं कल्पलतापत्रेषु लिखन्ति स्म।

यथा-

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां

वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।

विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं

दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति। । अभि० ७/५

अत्र द्वयोरपि पद्येषु लिपिपदस्य स्थाने लेखनशब्दप्रयुक्तः। महाकविना नैषधीयचरित-महाकाव्यकारेण लेखपदे लिपिपदमेव प्रयुक्तम्। यथा-

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं

लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।

मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः

प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः। ।

अस्यायं विद्यते नूनमभिप्रायो यत् प्राक्काले जना लेखं लिपिपदेन लिपिं वा लेखपदेन निगदन्ति स्म। सम्प्रति तु लिपिरक्षराकारप्रकाशिनी। वर्तमाने ये ग्रन्थाः सन्ति लिपिबद्धास्तेषां नाम ग्रन्थ एव भवति परं व्यतीते काले लिपिबद्धानां ग्रन्थानां नाम पाण्डुलिपिर्भवति स्म। पाण्डुलिपिपदवाच्येषु ग्रन्थेषु पूर्वमितिवृत्तं प्राक्कालिकी परम्परा सामाजिकचित्रणं विद्यते तेषां पाण्डुलिपिग्रन्थानां मुद्रणेन सम्पादनेन सह संरक्षणम् अनिवार्यं विद्यते। पाण्डुलिपिग्रन्थप्राप्त्यर्थं सर्वैरेवैकीभूय प्रयासो विधेयः।

---

४. कुमार० १/७

अद्यत्वे पाण्डुलिपिग्रन्थानां संग्रहस्य महती वर्तत आवश्यक्तोपयोगिता च। केचन पाण्डलिपिग्रन्था एवंविधाः सन्ति येषां वैज्ञानिकक्षेत्रे महद्योगदानं प्रवर्तते। पाण्डुलिपिग्रन्थानां महान् कोशस्तत्र देवभुवि हिमालये वर्तते। विविधक्षेत्राणां विषयाणां विद्यानां च साधका अत्र आसन्, अतः सहजतया विविधविषयाणां पाण्डलिपिग्रन्थास्ततः प्राप्ताः प्राप्यन्ते च। प्रकाशितग्रन्थानां प्रामाण्यं साधयितुं पाण्डुलिपिरेव शक्तियुक्ता भवति। अतिप्राचीनग्रन्थानां पृथक् पृथक् मुद्रणालयेभ्यः प्रकाशितानां पाठप्रभेदो विलोक्यते। पाठभेदविषये साधकबाधकरूपेण याथार्थ्यप्रकटनशीला कुतश्चिदपि लब्धापाण्डुलिपिरेव भवति। यथा वाल्मीकिविरचितरामायणस्य व्यासविरचितमहाभारतस्य च वाल्मीकिव्यासहस्तलिखिते लिपी न विद्येते। परं द्वयोरपि महाकाव्ययोः समये समये स्थाने स्थाने बहुभिर्लिखिताः पाण्डुलिपिग्रन्थाः संप्राप्ताः। ते ग्रन्था बहुभ्यः स्थानेभ्य मुद्रितास्तेषु ग्रन्थेषु प्रायः क्वचित् क्वचित् पाठभेदो दृश्यते। विदुषां मतमिदं विद्यते यत् प्रारम्भे तु महाभारते श्लोकानां संख्या दशसहस्रपरिमिता आसीत्, परं सम्प्रति सा संख्या दशगुणतामुपेत्यैकलक्षसंख्या वाच्या जाता। एतेन प्रतीयते समये समये विद्वद्भिर्महाकाव्याकारो वृद्धिं नीतः । परं तथापि मुद्रितस्य महाभारतस्य पाण्डुलिपयः यदि प्राप्येरन् तदा पाण्डुलिपिक्षेत्रे बृहती भविष्यत्युपलब्धिः। पाठभेदं द्रढयितुं पाण्डुलिपिरेव गरीयसी। महाकवेः कालिदासस्य ग्रन्थेषु बहवो विलोक्यन्ते पाठभेदाः। सर्वेषां पाठभेदानां याथार्थ्यदर्शनाय डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी महोदयेन कालिदासग्रन्थावलिः नाम्ना समेषां कालिदासीयग्रन्थानां विलोकनपुरस्सरं सम्पादनं कृतम्। पूर्वसम्पादकैः सम्पादितान् कालिदासविरचितान् ग्रन्थान् समवलोक्य यत्सम्पादनं तदैव संप्रति प्रमाणरूपताम् आवहति। ऋतुसंहारस्य सम्पादनात् प्राक् डॉ० सीताराम सहगलस्य डॉ० अभिन्नचन्द्रदासस्य डॉ० प्रभुदयालोश्च सम्पादनं निगूढं निरीक्षितम्। एवमेव मेघदूतस्य कुमारसम्भवस्य रघुवंशस्य मालविकाग्निमित्रस्य विक्रमोर्वशीयस्य अभिज्ञानशाकुन्तलस्य च स्वसम्पादनात् प्राक्पूर्ववर्तिभिः यद्यत् कृतं तत् सर्वं विलोक्यैव ग्रन्थानां सम्पादनं कृतम्। एतेन प्रतीयते यद् यदि नैकविधस्थानाधिगतपाण्डुलिप्यनुसारं प्रकाशितग्रन्थानां विलोकनपूर्वकं भवति सम्पादनं तदेव प्रमाणरूपम्।

अस्माकं देशे वर्तमानानां विदुषां मनीषिणां पाण्डुलिपिग्रन्थाः कदाचित् समग्रतया प्राप्यन्ते कदाचित् खण्डतया प्राप्यन्ते। केचन ग्रन्थास्तु प्राप्ते प्रागेव नष्टा भवन्ति। ये लिपिकर्त्तारः सन्ति तेषां अष्टौ गुणाः कथिता सन्ति। यथा-

स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

पाण्डुलिपिग्रन्थानामगोचरता विषये कथ्यते यत् यदि पाण्डुलिपिः क्वचित् निक्षिप्ता भवति, विक्रीता भवति, प्रदत्ता भवति, देशत्यागकाले विलुप्ता भवति, अल्पकालवशादपूर्णा भवति त्रुटिबाहुल्यात् त्याज्या भवति, अग्निदग्धजलनिमग्ना वा भवति तदा तदप्राप्तिरेव। अत एव कथ्यते-

निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको बहिरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥

रचनाया विलोपनकरणे दरिद्रतायाः प्रभावो दृश्यते क्वचिद् व्यसनासक्तेः प्रभावो क्वचिद् मन्दभाग्यता अवज्ञा वा भवति, क्वचिद् दुष्टे द्विष्टे च प्रत्ययो भवति।

यथा-

दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्रम्भः पञ्चकाव्यमहापदः॥

सम्प्रति यावत् सर्वकारेण पाण्डुलिपिप्राप्त्यर्थं संरक्षणार्थं च सर्वासु दिक्षु महान् प्रयासः क्रियते। देशस्य विश्वप्रथितां संस्कृतिम्, पुरातनताम्, सामाजिकताम्, जीवनपद्धतिम्, आदिमपरम्पराम्, वैज्ञानिकसूत्रवत्तां च यदि ज्ञातुमिच्छा वर्तते तर्हि प्राक्कालिकपाण्डुलिपि ग्रन्थानामन्वेषणं संरक्षणमतीवानिवार्यं विद्यते।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०८-१४)

ऋग्वेद में कर्मवाद की अवधारणा

डॉ० उमाकान्त यादव[1]

मानव जीवन में कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जीवन का अपरिहार्य अङ्ग है। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।[2] भारतीय परम्परा कर्मों से पलायन की आज्ञा नहीं देती। यहाँ कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि कर्म के बिना तो शरीर निर्वाह संभव नहीं है।[3] यजुर्वेद में कर्म करते हुए मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की प्रेरणा दी गयी है।[4] ऋग्वेद में स्पष्ट उक्ति है कि अपने महान् कर्मों से ही इन्द्र विख्यात हुआ।[5] वैदिक ऋषियों की दृष्टि में कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। ऋग्वेद में कर्म न करने वालों को हीन एंव पतित माना गया है। एक मन्त्र में अकर्मा व्यक्ति को दस्यु, अज्ञानी, व्रतहीन तथा अमानुष कहा गया है।[6] इसी तरह कर्मफल के सन्दर्भ में भी भारतीय चिन्तकों की धारणा स्पष्ट है कि मनुष्य जैसी उत्तम या अधम भावना से कर्म करता है, वैसा ही शरीर पाकर उन कर्मों के फलों का भोग करता है।[7] उपनिषदों में भी शुभ एवं अशुभ कर्मों के फलस्वरूप शुभ एवं अशुभ परिणामों का विशद विवेचन दृष्टिगोचर होता है।[8] भारतीय दर्शनों में यह विश्वास कर्मवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह नैतिक सिद्धान्त सृष्टि का अटल एवं अनिवार्य सत्य है, जो शुभ कर्मों का शुभ तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल प्रदान करता है।

ऋग्वेद समस्त विद्याओं एवं ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत है। ऋचाओं में कर्म शब्द लगभग ५० बार विभिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त यह क्रतु, अकर्म, सुकर्म आदि रूपों में भी समस्त होकर परिलक्षित होता है। कर्म के सन्दर्भ में कर्त्तव्य कर्मों, सुकर्मों, पाप-कर्मों आदि के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों का विवरण ऋग्वैदिक ऋचाओं में प्राप्त होता है।[9] जिनके आधार पर ऋग्वेद में कर्मवाद की अवधारणा को देखा जा

---

१. रीडर संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

२. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता ३.५

३. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। गीता ३.८

४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। यजु. ४०.२

५. कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतोऽभूत्। ऋ० ३.३६.१

६. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। ऋ. १०.२२.८

७. यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते। तादृशेन शरीरेण तत्तफलमुपाश्नुते। मनु १२/८

८. ईशावास्योपनिषद् -३, कठोपनिषद् १.३.७ आदि।

९. ऋग्वेद सूची खण्ड भाग ५, वैदिक पदानुक्रम कोश, संहिता भाग

सकता है। कतिपय दार्शनिक ऋग्वेद में ऋत के रूप में कर्मवाद की अवधारणा स्वीकार करते हैं।[१०] डॉ० राधाकृष्णन् ऋत को कर्म सिद्धान्त का पूर्वरूप मानते हैं।[११] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋत को कार्यजगत् का अनादि कारण, सत्य स्वरूप ब्रह्म का नियम, कारण रूपी सत्य, प्रवाह रूप सत्य आदि माना है।[१२] जयदेव वेदालंकार ऋत को त्रिकालाबाधित नियम, सार्वभौम, सार्वकालिक सदाचार के मानदण्ड के साथ ही अपरिवर्तनशील सत्य के रूप में वस्तुओं की यथार्थता में स्वीकार करते हैं।[१३]

यद्यपि ऋग्वेद में प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी ऋत के द्वारा कर्मवाद का निर्देश नहीं किया गया है, लेकिन सायण ने अपने भाष्य में ऋत पद द्वारा कर्मफल का निर्देश अवश्य किया है।[१४] वस्तुत: ऋग्वेद में ऋत मूल दार्शनिक स्वरूप की दृष्टि से व्यवस्था के रूप में चित्रित है। ऋचाओं में ऋत के अन्य रूप इसी व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही परिलक्षित होते हैं। यह प्रकृति में प्राप्त निश्चित व्यवस्था के कारण शाश्वत नियम, यज्ञों में प्राप्त नियमितता के कारण यज्ञ, यज्ञों में दृष्टिगत सत्याचरण व्यवस्था के कारण नैतिक व्यवहार का नियम, गतिशीलता के कारण उदक, असत्यवादी अनृत का निश्चित विपरीत भाव होने के कारण सत्य आदि रूपों में स्वीकृत हुआ। चूँकि प्राणियों में कर्मफलों का नियत्रण भी एक व्यवस्था के अनुसार ही परिलक्षित होता है, अत एव सायण आदि भाष्यकारों ने ऋत को कर्मफल का वाचक माना। ऋचाओं में ऋत कर्म के वाचक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ जब अग्नि के लिए कहा जाता है कि हे अग्ने! ऋत का आचरण करता हुआ तू किस ऋत के द्वारा हमारे नवीन स्तोत्र को जानने वाला है।[१५] तो यहाँ ऋतेन पद द्वारा कर्म का ही बोध होता है। एक अन्य मन्त्र में वेंकटमाधव ने ऋत का भाष्य करते हुए ऋत का अर्थ कर्म ही माना है।[१६] ऋचाओं में यह नैतिक व्यवस्था के रूप में भी वर्णित है, जिसकी ऋत के अनुसार चलना ही व्रत है'[१७] आदि रूपों में अनुशंसा की गयी है। इस तरह मानव जगत् में ऋत नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का अधिष्ठाता है। जिसके द्वारा ऋषियों ने एक निश्चित व्यवस्था की परिकल्पना की। इसी व्यवस्था में कर्मवाद के उत्स को देखा जा सकता है।

---

१०. प्रो० संगम लाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, भूमिका पृ० ११

११. भारतीय दर्शन, पृ० ८८

१२. (क) डॉ० सुरेन्द्र कुमार, ऋग्वेद में विविध विद्यायें, पृ० १३५ (ख) ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः।। ऋ० १०१९०/१ दयानन्द भाष्य

१३. जयदेव वेदालंकार, वैदिक दर्शन पृ० ३७९

१४. ऋतस्य सत्यस्यावश्यम्भाविनः कर्मफलस्य....। ऋ० १.१.८ पर सायण भाष्य

१५. कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो न वेदा उचथस्य नव्यः। ऋ. ५.१२.३

१६. ऋतम् इतिशास्त्र शास्त्रीयम् अकुटिलं कर्मोच्यते इति। ऋ. ५.१२.२ पर वेंकटमाधवकृत भाष्य।

१७. ऋतं शंसन्त ऋतमित् त आहुः। ऋ. ३.४.७

ऋग्वेद में त्रैत (ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति) की परिकल्पना में भी कर्मवाद की अवधारणा को देखा जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि दो सुन्दर पंख वाले पक्षी जो कि परस्पर संयुक्त एवं सखा हैं, सामान्य रूप से एक ही वृक्ष का आश्रय लिये हुए हैं। उन दोनों में एक स्वादुफल (पिप्पलम्) को खाता है और दूसरा बिना खाये ही केवल साक्षी रूप में देखता है।[१८] यहाँ सायण ने '**सयुजौ**' का अर्थ '**समानयोगौ**' करके जीवात्मा एवं परमात्मा माना है, जिसमें जीवात्मा कर्मफलों को भोगता है और परमात्मा साक्षी मात्र रहता है।[१९] डॉ० कुन्हन राजा वृक्ष को ब्रह्माण्ड का वाचक मानते हैं।[२०] जबकि महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रकृति।[२१] महर्षि ने प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा को क्रमशः भोग्य, भोक्ता तथा नियन्ता के रूप में स्वीकार किया है।[२२] इस संसार में जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही ईश्वरीय न्याय से अवश्य भोगता है। कर्म तथा जीव का नित्य सम्बन्ध है।

ऋग्वेद में उत्तम, मध्यम एवं अधम इन तीन लोकों का उल्लेख है।[२३] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि तीन दिव्य लोक हैं, उनमें से दो लोक सविता देव के पास हैं और तीसरा लोक यम के भुवन में वीरों के लिये रहने का स्थान है।[२४] वेंकटमाधव ने यहाँ **द्याव:** का अर्थ **स्वर्ग** किया है।[२५] एच० जी० नरहरि के अनुसार तीनों स्वर्गों में निम्नतम यम का था, जो सोम तथा चन्द्र से गहन रूप में सम्बन्धित था और जहाँ यज्ञ करने वाले तथा दानियों की भाँति साधारण योग्यता के लोग रहते थे। शेष दो इससे उत्कृष्ट थे, जिनमें सविता एवं सूर्य का प्रदेश अपेक्षाकृत निम्न था और इसमें ऋभु तथा मरुत् जैसे वे लोग रहते थे, जिन्हें उनके असाधारण गुणों के कारण अमरत्व एवं देवत्व प्राप्त हो गया था। इससे इतर एक वह लोक था, जिसे विष्णु के सर्वोच्च स्वर्ग से भिन्न नहीं कहा जा सकता ओर यह केवल मन्त्रद्रष्टा ऋषियों एवं विशेष रूप से केवल उन्हीं लोगों के लिये प्राप्य था, जो अपनी दया एवं भक्ति के लिये प्रसिद्ध थे।[२६] इस तरह ऋग्वेद में पुण्यात्माओं के लिये उत्कृष्ट लोकों का

---

१८. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति। ऋ. १.१६४.२०

१९. ऋ. १.११६४.२० पर सायण भाष्य

२०. डॉ० कुन्हन राजा, अस्यवामस्य हिम्न, ट्रान्सलेशन एण्ड नोट्स, पृ० ३७

२१. सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ० १९६

२२. श्रीनिवासशास्त्र शास्त्री, दयानन्द दर्शनः एक अध्ययन, पृ० १११

२३. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ। ऋ ५.६०.६

२४. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट्। ऋ. १.३५.६

२५. वहीं पर वेंकटमाधव का भाष्य।

२६. एच.जी. नरहरिः आत्मन् अध्याय ४,पृ० ८७

विवरण प्राप्त होता है। पापियों के लिये भी **अन्धतमस्, अधरतमस्** तथा **गभीरम् पदम्** आदि निकृष्ट स्थानों की परिकल्पना ऋग्वेद में परिलक्षित होती है। एक मन्त्र में कहा गया है कि हमारे शत्रु अन्धतमस् से युक्त हो जायें।[२७] अन्यत्र इन्द्र से प्रार्थना है कि जो हमें नष्ट करना चाहता है, उसको अधरतमस् में डाल दें।[२८] एक अन्य मन्त्र में वर्णित है कि इस गम्भीर स्थान को पापी, ऋतविरोधी तथा असत्यवादी व्यक्तियों ने बनाया है-**'पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्'**।[२९] यहाँ **गभीरम् पदम्** का अर्थ सायण ने **नरकस्थानम्** किया है।[३०] इन संदर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि यद्यपि ऋग्वेद में नरकलोक का यह विकसित रूप दिखाई नहीं देता जो बाद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है, किन्तु वैदिक ऋषियों के मस्तिष्क में एक ऐसे स्थान की धारणा जन्म ले चुकी थी, जहाँ पापियों को दण्ड भोगने के लिये जाना होता है। इस स्थान को हम नरकलोक कह सकते हैं। इस तरह पुण्यात्माओं के लिये उत्कृष्ट एवं अधमात्माओं के लिये निकृष्ट लोकों की परिकल्पना कर्मवाद की अवधारणा को पुष्ट करती है।

ऋग्वेद में सुकृत् एवं दुष्कृत् की अवधारणा भी कर्मवाद को ही प्रमाणित करती है। ऋचाओं में सुकर्म एवं दुष्कर्म दोनों के ही परिणामों का पृथक्-पृथक् निर्देश परिलक्षित होता है। अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल प्राप्त होता है। उत्तम कर्म करने से मनुष्य को भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं। देवता लोग उसे अन्नादि से परिपूर्ण कर समस्त सुखों को प्रदान करते हैं। एक मन्त्र में **सुकृत्तम** व्यक्तियों को मधु का भोग प्राप्त करने वाला कहा गया है।[३१] यहाँ मधु को स्वर्गिक आनन्द का प्रतीक माना जा सकता है। अन्यत्र सुकृतों के लिये अन्नादि समृद्धि एवं सुख का विधान है[३२] जबकि दुष्कृतों को इन सुखों से वंचित बताया गया है।[३३] एक मन्त्र में इन्द्राणी का कथन है कि मैं दुष्कृत के लिए सुखदात्री नहीं होती।[३४] अन्यत्र कहा गया है कि दुष्कृत व्यक्ति ऋत के पथ को पार नहीं कर सकते।[३५] इस तरह ऋग्वैदिक ऋचाओं में वर्णित सुकृत् एवं दुष्कृत् के फलों का विवेचन कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

---

२७. अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्। ऋ. १०.१०३.१२

२८. यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः। ऋ. १०.१५२.४

२९. ऋ. ४.५.५

३०. वही, सायण भाष्य

३१. सुकृतमाः मधुनो भक्षमाशत। ऋ. ९.८३.४

३२. ऋ. १.९१.२०, ९२.३, ७.३५.४

३३. ऋ. ७.१०४.७

३४. न सुगं दुष्कृते भुवम्.......। ऋ. १०.८६.५

३५. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। ऋ. ९.७३.६

ऋग्वेद में पाप व पुण्य की अवधारणा पूर्णतः स्पष्ट है।[३६] यह अवधारणा भी कर्मवाद को पुष्ट करती है। ऋचाओं में आगस्, एनस्, अंहस्, अनृत, दुरित, अंहति और दुष्कृत पाप के अर्थ में प्रयुक्त हैं। वहाँ शास्त्र विहित कर्मों को न करने या शास्त्र विहित कर्मों के विरुद्ध आचरण करने के कारण व्यक्ति को पापी कहा गया है।[३७] ऋषियों की दृष्टि में व्यक्ति अपने ही कर्मों के परिणाम स्वरूप पाप का अधिकारी होता है।[३८] पाप केवल जानकारी में ही नहीं होते, अपितु अनजाने में भी हो सकते हैं, जिनसे बचने के लिए ऋचाओं में देवताओं से प्रार्थना की गयी है।[३९] इसी तरह ऋग्वेद में सृकृत, शिव, भद्र आदि के साथ पुण्य की अवधारणा का विकास दृष्टिगोचर होता है। डॉ. वेद प्रकाश वर्मा के अनुसार-'आधुनिक युग के धर्मपरायण व्यक्तियों की भाँति ऋग्वैदिक लोग भी यह मानते थे कि मनुष्य को वर्तमान जीवन में सांसारिक सुख तथा अगले जन्म में स्वर्ग सुख प्राप्त करने के लिए पाप से दूर रहना चाहिए और सदैव पुण्य करना चाहिये'।[४०]

पुनर्जन्म की अवधारणा भी कर्मवाद को इंगित करती है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से पुनर्जन्म का विवरण ऋचाओं में प्राप्त नहीं होता, तथापि ऐसे संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं, जिन्हें पुनर्जन्म सिद्धान्त का आधार माना जा सकता है। सातवें मण्डल के तैंतीसवें सूक्त में वसिष्ठ ने अपने अनेक जन्मों का उल्लेख किया है। एक सम्पूर्ण सूक्त में मृत व्यक्ति के आत्मा के पुनः लौट आने का विवरण प्राप्त होता है।[४१] ऋचाओं में प्राण, इन्द्रिय एवं शरीर को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रार्थनाएं भी की गयी हैं,[४२] जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि इस तथ्य से परिचित थे कि मृत्यु के अनन्तर मानव शरीर, इन्द्रिय तथा प्राण उन्हें पुनः प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद में पुनर्जन्म सिद्धान्त की विद्यमानता बीज रूप में परिलक्षित होती है, जिसने उपनिषदों एवं भारतीय दर्शन में विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद में स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं।[४३] वैदिक ऋचाओं में कर्म पुनर्जन्म का सम्बन्ध कार्य कारण शृङ्खला के अनुसार प्रतीत होता है। जीवन में किये गए कर्मों, प्राप्त अनुभवों तथा शिक्षा का प्रभाव, संस्कार रूप

---

३६. ऋतावरी, अंक ५, अप्रैल २००४, पृ० १९-२०

३७. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, पृ० १०५

३८. ऋ. ६.५१.७

३९. ऋ. १०.१००.७

४०. डॉ० वेद प्रकाश शर्मा, नीतिशास्त्रशास्त्र के मूल सिद्धान्त, भारतीय नैतिक दर्शन, पृ० ३३६

४१. ऋ. १०.५८

४२. ऋ. १०.५०.६.७

४३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० २२१.२६

से मन में संगृहीत रहता है, जो पुनर्जन्म का प्रेरक है।[४४]

सकाम एवं निष्काम कर्म की भावना में भी कर्मवाद को देखा जा सकता है। ऋग्वेद में ईशस्तुति, यज्ञ एवं दान आदि कर्म सुख-समृद्धि की कामना के साथ सम्पादित होने का विधान, उन्हें सकाम कर्म की संज्ञा प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त ऋचाओं में ईश्वरार्पण बुद्धि से भी कर्म करने का निर्देश प्राप्त होता है।[४५] ऐसे कर्मों को निष्काम कर्म की श्रेणी में रखा जा सकता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरुषार्थों की सिद्धि ही मानव जीवन का उद्देश्य है,[४६] जिनकी प्राप्ति के लिए सकाम एवं निष्काम दोनों प्रकार के कर्म सहायक हैं। वस्तुत:, धर्मयुक्त निष्काम कर्मों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत एव इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों उपलब्धियों के लिए धर्मानुकूल कर्म करना ही अभीष्ट है।

ऋग्वैदिक ऋचाओं में कर्म के लिए क्रतु शब्द का प्रयोग भी मिलता है। आचार्य यास्क ने भी क्रतु को कर्म का पर्याय माना है- क्रतु कर्मनाम।[४७] यहाँ विचारणीय है कि ऋग्वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यहाँ किस तरह के कर्मों से हैं? इस सन्दर्भ में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सत्कर्मों से। ऋचाओं में प्राय: **सुकृत:** एवं सक्रतु विशेषण परिलक्षित होते हैं। वस्तुत: सत्कर्मों से ही शुभ फल की आकांक्षा की जा सकती है। अत एव सत्कर्म ही वरणीय है। ऋचाओं में सत्कर्मों की महिमा का विशद विवेचन है। उदाहरणार्थ एक मन्त्र में उषाओं को सुकृत एवं सुदानी व्यक्ति के लिए अन्न धारण करती हुई बताया गया है।[४८] अन्यत्र पुण्यात्माओं के सत्कर्मों को सबका कल्याणकारी कहा गया है।[४९]

सत्कर्मों का फल इसी लोक में मिलता है अथवा परलोक में भी? इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों की धारणा है कि सत्कर्मों का फल इहलोक एवं परलोक दोनों में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ अग्नि को सम्बोधित एक मन्त्र में कहा गया है कि हे अग्ने! तुम इस मनुष्य को प्रतिदिन यशस्वी बनाते हुए उत्तम अमरपद पर प्रतिष्ठित करते हो और जो दोनों प्रकार के जन्म के लिए अतीव पिपासु है, उस ज्ञानी के लिए सुख और अन्न सब ओर से देते हो।[५०] इस मन्त्र के सन्दर्भ में स्कन्दस्वामी का कथन है कि अग्नि अपनी आराधना करने वाले व्यक्ति

---

४४. नन्द लाल दशोरा, कर्मफल और पुनर्जन्म, पृ० १३९

४५. मानो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम। ऋ. ७.३१.५

४६. धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् स्वानुग्रहेण सद्यः सम्पादय। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, २४७

४७. निघण्टु, २.१

४८. इषं वहन्ती सकृते सुदानवे। ऋ. १.९२.३

४९. शं न: सुकृतां सुकृतानि सन्तु। ऋ. ७.३५.४

५०. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे। यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये।। ऋ. १.३१.७

को परलोक में अमृतत्व एवं इस लोक में अन्नादि समृद्धि तथा यश प्राप्त कराता है।[५१] इसी तरह एक स्थल पर सोम के लिये कहा गया है कि वह हवि दान करने वाले यजमान के लिए दुधारू गौ, शीघ्रगामी घोड़ा तथा वीर, कर्मठ, गृहकार्य में कुशल, यज्ञपरायण सभ्य एवं पिता को ख्याति देने वाला पुत्र प्रदान करता है[५२] तो वहीं अन्त्येष्टि सूक्त में मृतक को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि - तुम सर्वोच्च स्वर्ग में पितरों के साथ, यम के साथ तथा अपने इष्टापूर्त के साथ संगत हो जाओ।[५३] इस तरह सत्कर्मों द्वारा इहलोक एवं परलोक दोनों स्थानों में फल की प्राप्ति होती है।

कृत कर्म नष्ट होते हैं अथवा नहीं? इस सन्दर्भ में ऋषियों का मन्तव्य है कि कृत कर्म कभी नष्ट नहीं होते, उनका अस्तित्व बना रहता है। चाहे वे कर्म वर्तमान में किये गए हों अथवा भूतकाल में। अश्विनी कुमारों को सम्बोधित एक ऋचा में कहा गया है कि पूर्व में किये गए कर्म कभी नष्ट नहीं होते।[५४] एक अन्य मन्त्र में इन्द्र की उक्ति है कि मुझे सब लोग किये गए कर्मों से ही प्राप्त होते हैं।[५५] अन्यत्र वरुण के लिये कहा गया है कि जो कार्य किये जा चुके हैं तथा जो भविष्य में किये जायेंगे, उन समस्त आश्चर्यजनक कार्यों को वरुण देखता है।[५६] इन संदर्भों से यह प्रमाणित होता है कि व्यक्ति द्वारा कृत कर्म नष्ट नहीं होते और उनके अनुसार उन्हें फल की प्राप्ति होती है। उक्त अवधारणा भारतीय दर्शनों में वर्णित संचित तथा प्रारब्ध कर्मों को इंगित करती है।

इस तरह ऋग्वैदिक सन्दर्भों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के ऋषि कर्म विषयक मान्यता से पूर्व परिचित थे, जिसमें कर्मों के धर्म और अधर्म सुरक्षित रहते हैं और कभी भी कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम नहीं होता अर्थात् किये हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किये गये कर्म का फल नहीं मिलता। अत: हम कह सकते हैं कि हमारे कर्मों के फल का कभी नाश नहीं होता, साथ ही हमारे जीवन की घटनायें हमारे अतीत के कर्मों के अनुसार भी प्रभावित होती हैं। अत एव ऋग्वेद में इस कर्मवाद रूपी अलंघ्य नैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया जा सकता है, जिसका विकास परवर्ती कालों में पूर्ण विकसित रूप में परिलक्षित होता है। दार्शनिक पृष्ठभूमि में उतर कर उक्त शाश्वत एवं विलक्षण विधान को न्यायवैशेषिक में अदृष्ट तथा मीमांसा में अपूर्व की संज्ञा से अभिहित किया गया ।

---

५१. उभयाय जन्मने उभयस्मिन जन्मानि, इह च परमं च। वही स्कन्दस्वामी का भाष्य।

५२. ऋ. १.९१.२०

५३. सं गच्छस्व पितृभि: संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। ऋ. १०.१४.८

५४. न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि। ऋ.१.११७.४

५५. मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च। ऋ. १०.४९.३

५६. अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा। ऋ. १.२५.११

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१५-२१)

वैदिक काल में स्त्रीशिक्षा

डॉ० सरोज नौटियाल[१]

डॉ० रेणु शुक्ला[२]

वैदिक काल प्राचीन भारत का वह महत्त्वपूर्ण युग था, जब भारतीय समाज में धर्म परम्पराओं एवं मूल्यों की आधारशिला रखी गयी, जिसके आधार पर परवर्ती युग में भारतीय संस्कृति ने अपना विशिष्ट स्वरूप ग्रहण किया। वैदिक युग जिन विशेषताओं के कारण भारतीय इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है, उनमें से एक है:-स्त्रियों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि भारतीय सभ्यता के विकास के इस प्रारम्भिक चरण में स्त्रियों की स्थिति न सिर्फ विश्व की अन्य समकालीन सभ्यताओं की तुलना में उत्कृष्ट थी,[३] अपितु भारतीय सभ्यता के परवर्ती समाज से भी भिन्न एवं उनकी तुलना में बहुत प्रगतिशील थी।

वैदिक समाज में नारी का सम्मानीय स्थान था। उनके बिना गृह की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। पतिगृह में उनका प्रवेश संपूर्ण परिवार के लिये पवित्र अवसर होता था।[४] वे गृह की स्वामिनी[५] पति द्वारा सम्मानित[६] एवं उसके सभी कार्यों में सहभागिनी होती थीं। विवाह के अवसर पर वरचयन में उनकी इच्छा एवं स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाता था।[७] विवाह पूर्ण वयस्क आयु में होते थे और विवाह के लिये स्त्रियाँ बाध्य नहीं थी।[८] ऋग्वेद में आजीवन पितगृह में रहते हुए अध्ययनरत नारियों के सन्दर्भ प्राप्त हैं। बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा जैसी कुप्रथाएं वैदिक समाज के लिये अज्ञात थीं। वे सार्वजनिक सभाओं एवं सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होती थीं।

---

१. रीडर संस्कृत-विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, देहरादून.

२. रीडर इतिहास-विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, देहरादून.

३. प्राचीन यूनान, रोम इजरायल आदि में स्त्रियां पूर्णत: पुरुषों के अधीन थीं। वे किसी वस्तु की भाँति खरीदी-बेची जा सकती थीं। द्रष्टव्य डेविस, जे.एल.ए. शार्ट हिस्ट्री आव वूमेन, पृ. १७२, पट्टाई, राफेल, दि सीड आव अब्राहम, पृ. २३४

४. ऋग्वेद में स्त्रियों को सुमंगली एवं शिवा कहकर सम्बोधित किया गया। ऋग्वेद, १०.८५.३३।

५. तदैव, ८.१५९.३

६. तदैव,

७. तदैव, १०.२७.१२

८. तदैव, १०.८५.४५ अथर्ववेद, ६.२.३.

यद्यपि वैदिक समाज में पुत्र के जन्म की कामना की गई थी, परन्तु प्रारम्भिक उपनिषद् काल में विदुषी पुत्री के जन्म की इच्छा रखने वाले माता-पिता का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है।[९] सुसंस्कृत पुत्री परिवार का गौरव समझी जाती थी। स्त्री-पुरुष को सामाजिक जीवन का आधार मानते हुए वैदिक युग में दोनों के लिये समान सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक अधिकारों की व्यवस्था की गई। प्राचीन भारत में दीर्घकाल तक शिक्षा का तात्पर्य मुख्य रूप से वैदिक शिक्षा रहा, जो वैदिक काल में बिना लिङ्गभेद के स्त्री-पुरुष दोनों को दी जाती थी। पूर्ण वयस्क आयु में कन्या का विवाह होने के सन्दर्भ इसकी पुष्टि करते हैं कि उन्हें अध्ययन के लिये पर्याप्त समय दिया जाता था।[१०] वैदिक संहिताओं में ब्रह्मचारिणियों के उल्लेख प्राप्त हैं। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर शिक्षा समाप्त करने वाली कन्याएं योग्य पतियों को प्राप्त करती हैं।[११] अधिकाधिक संहिताओं के मन्त्रों की पण्डिता छात्राएं बह्वृची की उपाधि से सम्मानित होती थीं। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त कन्याएं गणित, वैद्यक, संगीत, नृत्य एवं शिल्पादि का भी अध्ययन करती थीं। ऋग्वेद[१२] में कन्याओं के नृत्यकौशल का संकेत प्राप्त होता है।

क्षत्रिय कन्याएं धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या की भी शिक्षा लेती थीं। यही नहीं, वे आवश्यकता होने पर युद्धों में भी भाग लेती थीं। इसकी पुष्टि घोषा द्वारा दृष्ट ऋग्वेद के सूक्त से होती है, जिसमें वध्रिमती और विष्पला नामक दो महिला योद्धाओं की चर्चा है।[१३] एक अन्य सन्दर्भ में मुद्गलानी युद्ध में अपने पति मुद्गल के रथ को चलाती है और विभिन्न कठिनाइयों के बाद भी पति को युद्ध में विजय दिलाने में सहायता करती है।[१४] ऋग्वेद में वृत्रासुर की माता दनु[१५] एवं यशोयती[१६] का स्त्री योद्धा के रूप में वर्णन मिलता है।

वैदिक-कालीन कन्याओं का बालकों की भाँति ही उपनयन-संस्कार भी होता था। यजुर्वेद में कहा गया है कि कन्याओं का उपनयन-संस्कार होता था तथा वे संध्योपासन की विधि भी पूरी करती थीं।[१७] गोभिल

---

९. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जायेत तिलौदनो पाचयित्वा आश्नीयातामिति। बृहदारण्यक उपरिषद् IV. ४.१८-

१०. ऋग्देव में प्राप्त एक संदर्भ के अनुसार एक विदुषी कन्या का विवाह एक विद्वान् पुरुष से होना चाहिए। अल्पायु में कन्या के विवाह के विषय में नहीं सोचना चाहिए।

११. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद ११.९.१६

१२. ऋग्वेद १.९.२-४

१३. तदैव १०.२९, १०.४०

१४. तदैव १०.१०२

१५. तदैव ५.६१.६, ९

१६. तदैव १.३२.९

१७. यजुर्वेद ८.१

गृह्यसूत्र के पुरोहित द्वारा उचित वस्त्र एवं यज्ञोपवीत धारण किये हुए कन्या को मन्त्रोच्चारण हेतु वेदी पर लाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[१८] यज्ञोपवीता नारी के गुणों की विस्तृत चर्चा ऋग्वेद संहिता में की गयी है।[१९] यज्ञ के अवसर पर पत्नी द्वारा मन्त्रोच्चारण का समर्थन सूत्र ग्रन्थों से होता है।[२०] गोभिल गृह्यसूत्र की टीका में कहा गया है स्त्रियों को उचित शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि उचित शिक्षा के अभाव में वे अग्निहोत्र करने में समर्थ नहीं होंगी। सामवेद के गायन में स्त्रियाँ विशेष रूप से निपुण थीं।[२१] वैदिक युग में प्राप्त ब्रह्मवादिनी एवं आचार्या स्त्रियों के सन्दर्भ मन्त्रों के उच्चारण एवं गायन में उनकी निपुणता व यज्ञादि कार्यों में पुरुषों के साथ उनकी उपस्थिति उनके शिक्षा सम्बन्धी अधिकार के ठोस प्रमाण हैं।

स्त्रियाँ वैदिक मन्त्रों के उच्चारण एवं गायन में ही सिद्धहस्त नहीं थीं, अपितु ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का साक्षात्कार ऋषिकाओं के द्वारा किया गया। ऋग्वेद में इस प्रकार की २५ मन्त्रद्रष्ट्री नारियों -अगस्त्य स्वसा[२२], अदिति[२३], अपाला[२४], इन्द्राणी[२५],इन्द्र-मातर:[२६], इन्द्रस्नुषा[२७], उर्वशी[२८], कुशिका-रात्रि:,[२९] गोधा[३०] घोषाणा-काक्षीवती[३१], जुहू[३२] दक्षिणा-प्रजापत्या[३३], यमा[३४] यमी-वैवस्वती[३५], रोमेशा-कक्षीवान्,[३६] लोपामुद्रा,[३७] वाक्-

---

१८. शर्मा, उषा एवं शर्मा बी.एम., वूमेन एजुकेशन इन एश्येण्ट इण्डिया (सम्पा.) एजुकेशन आव वूमेन, इन्द्र पृ. २९ दिल्ली १९९५

१९. ऋग्वेद १०.१०९.०४

२०. गोभिल गृह्यसूत्र १.३., आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०.११.५.१२, पारस्कर गृह्यसूत्र १०.२.१

२१. पत्नी कर्मेव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातार:, शतपथ-ब्राह्मण, १४.३.१-३५

२२. ऋग्वेद १०.६६.६

२३. तदैव १०.७२.१-९

२४. तदैव ८.९१.१-७

२५. तदैव १०.१४५. १-७, १०.८६.१-२३

२६. तदैव १०.१५३. १-५

२७. तदैव १०.२८.१

२८. तदैव १०.९५.२,४, ५,७,११,१२,१५,१६ १८

२९. तदैव १०.१२७. १-८

३०. तदैव १०.१३४. ६-७

३१. तदैव १०.३९.१-१४, १०.४०.

३२. तदैव १०.१०८. १-७

३३. तदैव १०.१०८. १-११

आम्भृणी,[३८] विश्वावारात्रेयी,[३९] शची-पौलोमी,[४०] श्रद्धा-कामायनी,[४१] शश्वती-आंगिरसी,[४२] सरमा-देवशुनी,[४३] सूर्या-सावित्री,[४४] सार्पराज्ञी,[४५] सिकता-निवावरी[४६] के सन्दर्भ प्राप्त हैं। स्त्रियों के उच्च मानसिक स्तर एवं प्रतिभा की पुष्टि बृहदारण्यक उपनिषद्[४७] के गार्गी एवं मैत्रेयी उद्धरण से भी होती है।

वैदिक काल में स्त्री को पति के साथ एवं स्वतन्त्र रूप से भी यज्ञ करने के अधिकार थे। ऋग्वेद में पति-पत्नी के संयुक्त रूप से यज्ञ करने का उल्लेख है।[४८] अथर्ववेद में भी **'योषितो यज्ञियाः इमाः'** कहकर नारी के याज्ञिक अधिकार की पुष्टि की गई है।[४९] ऋग्वेद के पांचवे मण्डल के २८वें सूक्त में विश्ववारा नामक नारी का वर्णन है, जो प्रतिदिन प्रातः स्वयं यज्ञ कराती है।[५०] ऋग्वेद में ही एक कन्या को यज्ञ में देवराज इन्द्र को सोमरस प्रदान करते हुए दर्शाया गया है।[५१] ऐतरेय ब्राह्मण[५२] में पति को पत्नी के अभाव में अपूर्ण कहा गया है। शतपथ-

---

३४. तदैव १०.१५४. १-५
३५. तदैव १०.१०.१, ३,६,७,११,१३
३६. तदैव १.१२०. १-७
३७. तदैव १.१७९, १-६
३८. तदैव १.१२५ १-८
३९. तदैव ५.२८, १-७
४०. तदैव १०.१५९ १-६
४१. तदैव १०.१५१. १-५
४२. तदैव ८.१. १-३४
४३. तदैव १०.१०८.२,४,६,८,१०,११
४४. तदैव १०,८५,१-४७
४५. तदैव १०.१८९. १-३
४६. तदैव ९.१८९. १-३
४७. सेकरेड बुक्स आव दि ईस्ट, वाल्यूम XV, पृ० १०८
४८. ऋग्वेद १.७२.५, ५.४३.१५
४९. अथर्ववेद ११.१.१७-२७
५०. समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति। एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची। ऋग्वेद, ५.२८,१
५१. तदैव ८.९१.१
५२. ऐतरेय ब्राह्मण, १.२.५

ब्राह्मण[५३] में पत्नी के बिना पति द्वारा दी गयी आहुति को देवताओं द्वारा अस्वीकार्य बताया गया है। इन सभी संदर्भों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में यज्ञ के लिये पत्नी की उपस्थिति आवश्यक मानी गयी थी।

तत्कालीन स्त्रियाँ धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी का निर्वाह कर रही थीं, जिसके लिये समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता की पूर्ति की गयी थी। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में ही नहीं अपितु औद्योगिक जीवन में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वे तीर-धनुष बनाती थीं, कपड़े बुनती थीं और कृषि में भाग लेती थीं। संगीत, नृत्य आदि कलाओं में भी वे निपुण थीं। बाह्य गतिविधियों में उनकी सक्रियता उनको मिले स्वतन्त्रता के अधिकार की पुष्टि करती है।

स्त्रियों के शैक्षिक अधिकारों की पुष्टि के लिये वैदिक संहिताओं में पर्याप्त एवं संतोषजनक प्रमाण उपलब्ध होने के बाद भी वैदिक तथ्यों के ही आलोक में विचारणीय है कि आर्यों का सामाजिक संगठन पितृसत्तात्मक था, जिसमें पुरुषों का वर्चस्व था। वे अपने समाज के विशिष्ट स्वरूप (आर्यत्व) को बनाये रखने के प्रति सजग भी थे। वेदों में अनेक स्थलों पर एक नहीं, अनेकों पुत्रों के जन्म की कामना के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[५४] ऐतरेय ब्राह्मण में कन्या की उत्पत्ति को शोक का कारण माना गया है। यद्यपि विदुषी पुत्री के जन्म के लिये अनुष्ठान किये जाने का सन्दर्भ मिलता है, परन्तु यह अनुष्ठान पुंसवन संस्कार की भाँति लोकप्रिय कभी नहीं हुआ।[५५] यही नहीं, आर्यों की अधिकतम पुत्रों की इच्छा ने धीरे-धीरे कन्याओं के विवाह की आयु को प्रभावित किया, जो परवर्ती समय में कम होती गयी और उन्हें अध्ययन के लिये मिलने वाला समय भी कम हो गया।

आर्यों के पुरुष प्रधान समाज के ही समान उनके देवमण्डल में भी देवियों की तुलना में देवताओं का प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि वैदिक देवमण्डल में अनेक देवियों एवं अर्द्धदैवी अप्सराएं शामिल हैं, तथापि वे देवताओं की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं।[५६] उल्लेखनीय है कि वैदिक धर्म समाज का ही प्रतिबिम्ब है। उन्होंने देवियों की कल्पना देवताओं की पत्नी, माता, बहन या पुत्री रूप में की और जिस प्रकार समाज में स्त्रियों की स्वतन्त्र महत्ता नहीं थी, उसी प्रकार वैदिक देवियों को भी स्वतन्त्र रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। यही नहीं, उन्हें दैनिक आहुतियाँ भी प्राप्त नहीं होती थीं। वे सामूहिक रूप से एवं विशिष्ट अवसरों पर आहुति प्राप्त करती थीं।[५७] सभी देवियाँ सामान्य नारी की भाँति उदार, अपने भक्तों की रक्षक, समृद्धि, सुरक्षा, दीर्घायु, उत्पत्ति, पापमुक्ति इत्यादि विषयों से संबंधित है।

---

५३. शतपथ-ब्राह्मण, ५.१.६.१०

५४. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि। ऋग् १०.८५.४५ अथर्व. ६.२.३।

५५. अल्टेकर, एस०एस० दि पोजीशन आव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेश न, पृ० ३.४, दिल्ली, १९५९।

५६. वत्स, एस० एवं मुद्गल शकुन्तला, वूमेन एण्ड सोसाइटी इन एंश्येण्ट इण्डिया, पृ. ९७, हरियाणा १९९९।

५७. तदैव पृ. ९८

वेदयुगीन राजनीतिक जीवन में भी पुरुषों का वर्चस्व दिखाई देता है। स्त्रियों के किसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पद प्राप्त करने अथवा राजनीतिक गतिविधियों में उनकी प्रभावी भूमिका होने का प्रमाण वैदिक ग्रन्थ नहीं देते। समाज अथवा समिति में उनकी उपस्थिति राजनीति में स्त्रियों की प्रभावी भूमिका की ओर संकेत नहीं करती।

यद्यपि कुछ वैदिक स्त्रियों को वेदमन्त्रों की रचयिता एवं उद्गात्री के रूप में स्मरण किया जाता है, परन्तु यह तथ्य है कि परवर्ती परम्परा में उनकी संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है।[५८] ऋग्वेद में प्राप्त ऋषिकाओं के संदर्भों में अदिति, जुहू, इन्द्राणी, सरमा, उर्वशी, रात्रि, सूर्या आदि देवी अर्द्धदेवी पौराणिक चरित्र हैं। कुछ अन्य जैसे श्री, मेधा, दक्षिणा और श्रद्धा आदि अमूर्त भावनाओं के मानवीकृत रूप हैं। इस प्रकार मात्र ९-१० ब्रह्मवादिनियों, अपाला, घोषा, लोपामुद्रा शाश्वती, रोमशा इत्यादि को ही वास्तविक मानवीय स्त्रियों की संज्ञा दी जा सकती है।[५९]

यद्यपि वैदिक युग में स्त्रियों को शिक्षा के अवसर पुरुषों के समान उपलब्ध थे, परन्तु शिक्षित होना अनिवार्यता नहीं थी। यह वैकल्पिक प्रतीत होता है। पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का कुशलता से निर्वाह करना उनके जीवन की प्राथमिकता निर्धारित की गयी। गृहकार्यों में निपुणता,[६०] सेवाभाव,[६१] समर्पण,[६२] सन्तानोत्पत्ति एवं उनका पालन[६३] स्त्रियों के महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों के रूप में विहित थे। स्त्री-पुरुष के मध्य कार्य विभाजन ने स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति एवं गृहसंचालन तक सीमित कर दिया, जिसके गम्भीर परिणाम परवर्ती युग में सामने आए।

इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि वैदिक शिक्षा का स्थान पितृगृह नहीं, अपितु गुरुगृह होता था। तत्कालीन सामाजिक संरचना में सभी स्त्रियों का पुरुषों के समान गुरुकुल में जाकर विद्याध्ययन करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। पुत्रियाँ सामान्यतः पितगृह में रहकर ही भावी जीवन के लिये उपयोगी शिक्षा ग्रहण करती थीं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक पुरुष तीन ऋणों के साथ जन्म लेता है। इनमें से एक ऋषि ऋण से उर्ऋण होने के लिये उसे गुरुगृह में ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत कर शिक्षा ग्रहण करनी होती थी।

---

५८. तदैव पृ० ९७

५९. शर्मा उषा एवं शर्मा बी.एम. (सम्पा.) पूर्वोद्धृत ,सुशील कुमार ग्रेट वूमेन इन वैदिक लिटरेचर, पृ० ३९

६०. ऋग्वेद, ३.५३.४

६१. तदैव १.११६.१०, १,११७,१३, १,११८,६, १०,३४,४

६२. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा। ऋग्वेद १०.८५.४४

६३. सह नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह अथर्ववेद, १४.२.१ प्रजा जनय पत्ये अस्मै। अथर्ववेद १४.२.३१

उल्लेखनीय है कि प्राप्त सन्दर्भ पुरुषों के सम्बन्ध में हैं, स्त्रियों के नहीं। यह सत्य है कि कुछ विद्वान् आचार्यों की पुत्रियाँ पिता से एवं अपवाद स्वरूप कुछ अन्य कन्याएं भी पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने एवं वैदिक ज्ञान में पारंगत होने में सफल हुईं। ब्रह्मवादिनी एवं आचार्या के रूप में उनके उल्लेख वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं, परन्तु यह सन्दर्भ इतने कम हैं कि सामान्य भारतीय स्त्री को उच्च वैदिक शिक्षा के अवसरों की सुलभता को प्रमाणित नहीं करते। समय के साथ वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्डों में जटिलता बढ़ी। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार विशिष्ट शिक्षा प्राप्त ब्राह्मण ही इस जटिल प्रक्रिया में निपुण होते थे। अत: दीर्घकालीन प्रशिक्षण एवं याज्ञिक कार्यों के संपादन के विशिष्टीकरण के अभाव में प्रतीत होता है कि यज्ञ के अवसर एवं कर्मकाण्डों के संपादन में भी स्त्रियों की मौन सहभागिता ही रह गयी।

कालान्तर में सामाजिक पद, प्रतिष्ठा एवं अधिकारों के सन्दर्भ में स्त्री एवं पुरुष वर्ग के बीच बढ़ती खाई इस तथ्य की पुष्टि करती है कि प्रारम्भ से ही सैद्धान्तिक रूप से समान शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों के बाद भी व्यावहारिक रूप से दोनों वर्गों को प्राप्त शिक्षा के अवसर एवं दी जाने वाली शिक्षा में भेद था, जो समय के साथ बढ़ता गया और धीरे-धीरे उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित किया जाने लगा। यह एक हास्यास्पद तथ्य है कि जिन वैदिक ऋचाओं की रचना का श्रेय कुछ स्त्रियों को दिया गया, उन्हीं वेदमन्त्रों के उच्चारण के अधिकार से भी कालान्तर में उन्हें वंचित किया गया, वे चिंता का कारण बनीं और समाज में भी उनका सम्मान पहले जैसा नहीं रहा।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०२२-३१)

वैदिकभाषावैशिष्ट्यम्

डॉ० जितेन्द्र कुमार:[1]

भाषा हि भावानामुत्कृष्टतमा निर्वाहिका। शास्त्रेऽधीतीनामनधीतीनां वा समेषामपि हृदि भावा भवन्ति परं तेषामुद्वाहिका भाषा न सर्वेषां समानरूपा भवति। भाषातत्त्वविदस्तन्माध्यमेन निजहृदि जायमानानां भावानां सरलमपि सरसं सरसमपि च सहजमभिव्यञ्जनं कुर्वते। भाषातत्त्वं यथायथमजानन् स्वमनोविचाराणां स्वैरं प्रकाशने सम्प्रेषणे वा नालं भवति। तस्माद् भाषाया महिम्नो विषये विद्वांसोऽविद्वांसो वा न कदाचित् विप्रवदन्ते। भाषा भाषणात्। भाष्यते भाषणादिव्यवहारोऽनुष्ठीयते यया सा भाषा। भाषाधीना हि खलु सर्वाऽपि लोकव्यवहारपरम्परा। सम्यगेव भणितं महाकविना दण्डिना भाषाविषये-

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

कृत्स्नेऽपि जगति सर्वासु भाषासु संस्कृतभाषा अन्यतमा प्रशस्यतमा च वर्त्तते। सेयं गीर्वाणवाणी द्विविधा। लौकिकी वैदिकी च। वैदिकभाषात एवं लौकिकीभाषा निस्सृता प्रसृता च। वैदिकलौकिकभाषयो संस्कृतभाषात्वेऽपि भिन्नता बहुवर्त्तते। लौकिकभाषायाम् अर्थविशेषे विख्याताः बहवः शब्दाः वैदिकभाषायाँ भिन्नार्थका अपि भवन्ति। तस्माद् वैदिकभाषाज्ञानं विना वेदाध्ययनस्योपक्रमे कृते वेदमन्त्राणां मूलभावस्य सम्यगवगतिः न सम्भवति। एतदेवोद्देश्यमाधारीकृत्य मनीषिणा महर्षिव्यासेन सुष्ठूदीरितमिदमाभाणकम्

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।[2]

यो वेदं सावधानं न पठति स तदर्थं नैव जानाति। असौ हि मां व्यापादयिष्यति स्वयं वेदः तस्माद् बिभेतीति कवेरभिप्रायः। अनेन निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यद् वेदज्ञानार्थं वैदिकभाषाज्ञानमावश्यकमपरिहार्यञ्च वर्त्तते। उपलब्धेषु बहुषु ग्रन्थेषु निघण्टुनामकोषः सर्वप्रथमः वैदिककोषरूपेण सर्वैः वैदिकैर्विद्वद्भिश्च स्वीक्रियते समाद्रियते च। अस्मिन् वैदिककोशे विद्यमानानां शब्दानामर्थावबोधनार्थं महर्षियास्कः निरुक्तशास्त्रं निरमिमीत। शास्त्रमिदं निर्वचनशास्त्रमप्युच्यते।

इह एतादृशाः केचन शब्दाः प्रस्तूयन्तेऽत्र ये वेदे लोके च भिन्नयोरर्थयोः प्रयुज्यन्ते। ये शब्दाः लोके यस्मिन्नर्थे निबद्धाः सन्ति तेषां तेषामर्थाणां वेदाः विकृतिमापद्यन्ते विद्रूपताञ्च यान्ति। इतोऽपि परमृग्वेदस्य

---

१. अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, दयानन्द कालेज, अजमेर

२. महाभारतम्।

सर्वप्रथमभाष्यकर्त्तृत्वेन समाद्रियमाणो वेङ्कटमाधवस्तु सर्वानतिशेते। स तु वेदव्याख्यायाँ निरुक्तव्याकरणयोः ज्ञानेन वेदस्य केवलं चतुर्थांशमेवागगन्तुं शक्यत इति प्रतिपेदे[३] वेदाध्ययने कृतभूरि-परिश्रमाः विद्वांसोऽपि समग्रचिन्तनं चेतसि निधाय प्रवृत्ताः स्युरित्याभिप्रायः

लौकिकाः शब्दाः	वेदे अन्यार्थकाः
असुरशब्दः लोके दैत्यवाचकः	वेदे मेघवाचकः।
अहिशब्दः लोके सर्पवाचकः	वेदे मेघवाचकः।
अद्रिगिरी शब्दौ लोके पर्वतवाचकौ	वेदे मेघवाचकः।
वराहशब्दः लोके सूकरवाचकः	वेदे मेघवाचकः।
धाराशब्दः लोके जलप्रवाहवाचकः	वेदे वाणीवाचकः।
गौरीशब्दः लोके जलप्रवाहवाचकः	वेदे वाणीवाचकः।
कर्मकाण्डी स्वाहा शब्दः लोके अग्ने स्त्रीवाचकः[४]	वेदे वाणीवाचकः।
स्वधाशब्दः लोके इन्द्रस्य स्त्रीवाचकः[५]	वेदे अन्नवाचकः।
शचीशब्दः लोके इन्द्रस्य स्त्रीवाचकः	वेदे वाणी, कर्म, प्रज्ञावाचकः
गौशब्दः लोके धेनुवृषभवाचकौ	वेदे वाणी, पृथ्वीवाचकः।
पृथ्वीशब्दः लोके भूमिवाचकः	वेदे अन्तरिक्षवाचकः।
अयस्शब्दः लोके लोहवाचकः	वेदे हिरण्यवाचकः
आपशब्दः लोके जलवाचकः	वेदे अन्तरिक्षवाचकः।
समुद्रशब्दः लोके सिन्धुवाचकः	वेदे अन्तरिक्षवाचकः।
ओदनशब्दः लोके अन्नवाचकः	वेदे वाणी, मेघवाचकः।
भूतशब्दः लोके प्राप्तवाचकः	वेदे उदकवाचकः।

बहूनेतादृशान् शब्दानत्र प्रस्तोतुमीहते मे मनः। परं विस्तरभिया उपरिष्टादुद्धृताः शब्दाः दिङ्मात्रेणेह निर्दिष्टाः स्थालीपुलाकन्यायादिति सर्वत्र जानीरन्। वेदे बहूनि पदानि समानाकृतीन्युपलभ्यन्ते। तेषां शब्दानाम्

---

३. संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः। निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः।। (ऋग्वेद-अष्टक-८ अध्याय-१ भूमिका)

४. निघण्टु-भूमिकायाम्। पृष्ठ-४ स्वामी दयानन्द सरस्वती।

५. निघण्टु-भूमिकायाम्। पृ० ४ स्वामी दयानन्द सरस्वती।

अर्थनिर्धारणं कथङ्कंकरणीयम्? अथ च एक एव शब्द: नैकवाचक: अनेकार्थकश्च प्रतीयते, तदा केन प्रकारेण अर्थज्ञानं भवेत्? एतद्विषये निघण्टो व्याख्याकार: आचार्ययास्क: वदति- विना प्रकरणेन पृथक्त्वेन मन्त्राणां तेषां शब्दानाञ्च निर्वचनं नैव कर्त्तव्यम्। प्रकरणमाश्रित्यैव निर्वक्तव्यम्।[६] यास्क: निर्वचनशास्त्रं काल्पनिकमनुक्त्वा तर्कशिलायामुपस्थापयितुमिच्छति। अत: एव यदा साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो न भविष्यन्ति तदा तर्क एव ऋषि: भविष्यतीति यास्कस्य मन्तव्यम्।[७]

वैदिकमत्राणामर्थमवगन्तुं निर्वचनप्रक्रियाया आश्रयोऽप्यस्माभि: ग्रहीतव्य:। वेदार्थज्ञाने प्रक्रियेयं बहूपयोगिन्यावश्यकी च वर्त्तते। सर्वै: वेदज्ञै: भाष्यकारैश्च अस्या: प्रक्रियाया: आश्रयं प्रश्रयं च गृहीत्वैव विहितं स्व-स्व वेदभाष्यम्। यद्यपि वेदे मन्त्राणामुद्देश्यं शब्दानां निर्वचनं नास्ति, तथापि वेदमन्त्रेष्वपि एषा निर्वचनप्रक्रिया यत्र तत्र क्वचिदप्रत्यक्षरूपेण क्वचिच्च स्पष्टरूपेण दृग्गोचरी भवति। एभि: प्राप्तनिर्वचनैरसन्दिग्धभावानां स्पष्टीकरणे साहाय्यं प्राप्यते। अद्यत्वे एका सूक्ति: बहुप्रसिद्धिङ्गता वेदेन वेदार्थो वेदितव्य:, सा सरणिरपि एषैव। मन्त्रेषु ये संकेता: प्राप्यन्ते ते सम्यग् बोद्धव्या: विशदीकरणीयाश्च। तानेवाधारीकृत्य अग्रे सर्त्तव्यम्।

अत्र काश्चन मन्त्रान् प्रदर्श्य ज्ञापयितुमभिलषामि केन प्रकारेण मन्त्रेषु निर्वचनान्युपलभ्यन्ते इति। सर्वप्रथमं तावद् अग्निपदमेव द्रष्टव्यम्।

१. अग्निर्नयन्नववास्त्वम्।[८] अग्नि: ईश्वर: नूतननिर्मितभवने नयतु॥

२. अग्ने नये सुपथा राये अस्मान्॥[९] हे अग्ने! ईश्वर! भवान् धनार्थमस्मान् शुभमार्गेण नयतु।

३. स तू नो अग्निर्नयतु प्रणानन्॥[१०] असौ अग्नि: परमेश्वर: सर्वं जानन् अस्मान् नयेत्॥

४. प्र यं राये निनीषसि.....स वीरं धत्ते अग्ने॥[११] हे अग्ने! भवान् धनाय यस्य प्रकृष्टं नेतृत्वं कुरुते, स: वीरतां दधाति॥

५. येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो नयम्।[१२] हे अग्ने! येन निजतेजसा भवान्

---

६. (क) नैकपदानि निर्ब्रूयात्। (निरुक्त-२.३) (ख) न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्या:। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या:। (नि. १३.१२)

७. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एनं तर्कमृषिं प्रायच्छन्॥ (निरुक्त)

८. ऋग्वेद १.३६.१६

९. वही १.१८९.१; वा.स. ५.३६,७.४३,४०.१६

१०. वही-४.१.१०

११. वही-८.१०.३४

१२. वा.सं. १५.५५,१८६२

सहस्रमथवा सर्वं धनं प्रापयति, तेन अस्माकमिमं यज्ञं नीयताम्॥

६. ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे॥[१३] हे अग्ने। असौ ऋचा इममस्माकं यज्ञं प्रकाशे सुखे देवानां पुरतो गन्तुं नयतु॥

उपर्युक्तेषु सर्वेषु मन्त्रेषु अग्निसन्दर्भे **'नी'** धातो प्रयोगः ईक्ष्यते। अनेन निर्वचनसंकेतः प्राप्यते। अधोलिखिते मन्त्रे यद्यपि नीधातो प्रयोगः नास्ति, तथापि पुरोगाः शब्देन अग्रे गन्ता अर्थस्तेन च अग्रे नयति इति भावस्याभिव्यक्तिर्भवति।

अग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः।[१४] अग्ने देवानामग्रे यन्ता, गन्ता आसीत् वर्त्तते वेति।

एतेषां मन्त्राणामनुशीलनेन ज्ञायते यत् परवर्त्तिग्रन्थेषु ये धातवः उपलभ्यन्ते, पदानाञ्च यानि निर्वचननानि प्राप्यन्ते, तेषां सर्वेषामाधारभूताः ग्रन्थाः वेदा एव वेदमन्त्राणामेतादृशैः संकेतैः शब्दानामर्थबोधने तेषां सम्यग्विकासे च सरला गतिः भवितुं शक्नोति। भाषा तु कालक्रमेणाबाधं सातत्येन प्रवहति। व्याकरणं प्रवहन्तीं भाषां विकारेभ्यो रक्षति निर्दोषार्थे बध्नाति च।

एक एव शब्दः द्वितीयमर्थं कथं धत्ते इति संक्षिपामि। अग्निपदं दहधातोरपि निरुच्यमानं वैदिकमन्त्रेषु उपलभ्यते। तथाहि–

१. अहन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो।[१५] हे सोम! इन्द्र वृं जघान, अग्निश्च तं ददाह।

२. अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक।[१६] अग्निरिव दावानलोऽपि असूयया दहन्तं दहित॥

३. तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनु निर्दह त्वम्॥[१७] हे अग्ने! मम प्रगाढतमसि तिष्ठन् त्वं तेषां शत्रूणां गृहाणि दहति॥

उपरिवर्त्तिषु त्रिषु मन्त्रेषु अग्निना सह **'दह'** धातोः प्रयोगेण अग्निपदस्य **'ग्'** अंशे **'दग्ध'** इति पदस्य **'ग्'** अंशस्य निर्देशः प्राप्यते। इदानीमग्निः अग्रार्थे मन्त्रेषूपलभ्यते। द्वित्रीन् मन्त्राान् प्रदर्शयामि।

१. अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे।[१८] अजन्मा जीवः सर्वप्रकाशकस्य परमात्मनः तेजसा ज्ञानवान् भवति, तदासौ आत्मनः प्राग् जगदुत्पादकं परमेश्वरं पश्यति, जानातीत्यर्थः॥

---

१३. वा.स. १८.६३

१४. ऋग्वेद- १०.११०.११

१५. ऋग्वेद- ४.२८.३

१६. अथर्व- ७.४५.२

१७. अथर्व- ९.२.९

१८. अथर्व- (४.१४.१७) वा.स.- (१३.५१)

२. मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि।[१९] अहं सर्वप्रथमं स्वस्मिन् अग्निं नयामि॥

३. प्रत्यग्निनरुषसामग्रमख्यत्।[२०] अग्निः उषसाम् अग्रिममंशम् अपश्यत्।

४. (अग्निः) अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थात्।[२१] महानग्निः उच्चै उषसा पूर्वमतिष्ठत्, स्थित आसीदिति॥

उपर्युक्तेषु सर्वेषु उद्धरणेषु अग्निः तत्सम्बद्धतत्त्वानां वा प्रसङ्ग अग्रशब्दः प्रयुक्तोऽस्ति। अस्मात् अग्र (अग्रि) शब्देनापि अग्ने निर्वचनसंकेतः लभ्यते। शतपथ-ब्राह्मणेऽपि (६.१.१.११) संहितानामनुकरण एव अग्नेर्निर्वचनमग्रिशब्देन प्रतिभाति। अग्निः सर्वेषु प्राणिषु वर्त्तते। प्राणिजीवने सर्वप्रथममस्य सृष्टिः भवति। अग्निरग्र अस्ति, अग्री विद्यते। सोऽसौ देवानां परोक्षप्रियत्वाद् अग्री एव अग्निरभवत्[२२]॥ 'अग्' धातुः गत्यर्थकोऽस्ति। तस्माद् महर्षिररविन्दः निर्वचनं कुर्वाण एनं गतिशीलजीवनाधायकतत्त्वं निरदिशत्। अगितत्त्वस्य सर्वत्र व्यापकत्वं तु सर्वेषां विहितमेवास्ति।

१. अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा वपावन्तं नाग्निना तपन्तः।[२३] ब्रह्मचर्य्यस्य पवित्ररूपेणाग्निना विद्यारूपबीजस्य विस्तारं विदधन् यं ब्रह्मचारिणं विद्यया प्रसारयन् आचार्यः श्रमं कुर्वन् प्रकटयति।

२. अग्ने.....आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती।[२४] हे अग्ने! यजमानस्य हस्ते दधन् हविषा घृतेन परिपूर्णा स्रुवा सर्वतः सिञ्चेत्, परितः व्याप्नुयात्।

३. अजमनज्मि पयसा घृतेन।[२५] अजन्मानम् आत्मरूपमग्निम् अहं दुग्धेन घृतेन च सिञ्चामि व्याप्नोमि।

४. वर्चसा मां संमनक्त्वग्निः।[२६] अग्निः (ज्ञानं=परमेश्वरः) मा ब्रह्मतेजसा अञ्जति आवृणोत्यर्थः।

चतुर्षूद्धरणेष्वग्नेः सन्दर्भे अञ्ज् धातोः प्रयोगो वर्त्तते। सर्वेषु स्थलेषु अग्निः भौतिकाग्निः केवलं नास्ति प्रसङ्गानुसारमग्निं प्रकटयति आवृणोति, अग्निः परमात्मा स्वयमति अञ्जति आवृणोति।

एवं वैदिकमन्त्रेषु इङ्गितैः निर्वचनैरिदं सुस्पष्टमस्ति यत् परवर्त्तिनिर्वचनेषु वेदा उत्सभूता वर्त्तन्ते।

---

१९. अथर्व.- (७.८२.२)

२०. अथर्व- (७.८२.५)

२१. वा.स. (१२.१२)

२२. यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽअग्रिरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्माद् अग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः॥ शतपथ ब्रा० (६.१.१.११)।

२३. ऋ ५.४.३.७

२४. ऋग्वेद- ८.६०.१

२५. अथर्व. ४.१४.६

२६. अथर्व. (१८.३.११)

ब्राह्मणग्रन्थेषु 'अग्र' (अग्निः) पदेन अग्नेः निर्वचनस्याधारो वेदो विद्यते। अग्नेः 'नी+दह्+अञ्ज्' धातुभिः यास्कप्रदत्तं निर्वचनमपि मूलतो वेदे संकेतिताः सन्ति। (अक्ताद्, दग्धाद्वा, नीतात्-निरुक्त- ६.१४) अत्रैव यास्कस्य निर्वचने अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते, अग्रमपि वेदेषु इङ्गितमस्ति। (अग्रणीर्भवति) इत्यस्मिन्नपि नी=नयति, नेतृत्वार्थेऽपि वेदेषु संकेतिताः सन्ति। अहम् उदाहरणद्वयमन्यदपि दातुमुत्सहे येन विशदमगवगम्यते कीदृशाः संकेताः वेदेषु लभ्यन्ते इति।

इह प्रजामिह रयिं रराणा।[२७] अत्र सन्ततिम् इह च रयिं=धनं ददन् इत्यस्मिन् मन्त्रांशे धनं दाननिमित्तमुपदिशति वेदः।

अथ च 'विवृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्र'[२८] अर्थात् इन्द्र व्रजेण वृत्रं छित्त्वा पृथक् चकार। अस्मिनुद्धरणांशे वज्रस्य कृन्तनोपकरणत्वं निर्वचनेन स्पष्टमाभाति। एतेषामुदाहरणानामेका दीर्घानुक्रमणिका दातुं शक्यते। एतदधिकृत्य डॉ० कृष्णलाल महाभागस्य एको ग्रन्थः वर्त्तते तद् ग्रन्थविषयेऽत्र किमपि ज्ञापयितुमीहते मे मनः।[२९] अस्मिन् पुस्तके सहस्राधिकानां त्रिशतानां मन्त्राणामनुवादो विहितः। ग्रन्थकृता वेदेषूपलब्धनां निर्वचनानां निर्देशनमतिसूक्ष्मेक्षिकया निर्दिष्टमस्ति।

वेदानन्तरं वेदव्याख्यायाः सोद्देश्यः प्रथमायासः ब्राह्मणग्रन्थेषु दरीदृश्यते। अत्र तु वैदिकशब्दानां व्याख्यायै साभिप्रायं निर्वचनानामाश्रयो गृहीतः। तानि निर्वचनानि ब्राह्मणग्रन्थाः स्वोद्देश्यं पूरयन्ति। ते हि वैदिकशब्दानां सम्यग्व्याख्यामपि कुर्वन्ति। ऋग्वेदभाष्यकारः वेङ्कटमाधवः ब्राह्मणग्रन्थानां वेदव्याख्यायै अनिरतसाधारणमहत्त्वमभिव्यनक्ति। स मनुते यत् ब्राह्मणेषु परिश्रममकुर्वन्, ये ब्राह्मणानामर्थान् सुष्ठु जानन्ति, ते शब्दानामर्थान् सम्यग्रूपेण विदन्ति ज्ञापयन्ति चान्यान्।[३०] ब्राह्मणग्रन्थानां द्वित्रीणि निर्वचनानि पुरस्कृत्य तां पद्धतिं प्रदर्शयाम्यत्र। देवानां परोक्षप्रियत्वमपि मत्वा ब्राह्मणग्रन्थेषु वक्रः पन्थाः निर्वचनानां प्रवृत्तिः विलोक्यते। यथा- मानुषशब्दस्य निर्वचनं मूलरूपे मादुषः इति मत्वा ददाति ब्राह्मणम्। तथा तस्मै एका कथा आविष्कृता। प्रजापतेर्यो बीजो निर्दुष्टः सैव मादुषो भूत्वा मानुषोऽभवत्।[३१]

तैत्तिरीयब्राह्मणे पृथिव्याः निर्वचनं 'प्रथ्' धातोः क्रियते पृथ्वी पृथ्वीपदेनाभिधीयते, यतो हि प्रजापतिः

---

२७. ऋग्वेद- ४३६.९

२८. ऋ० १.६१.१०

२९. वैदिक निर्वचन कोषः। डॉ० कृष्ण लाल, जे.पी. पब्लिसिंग हाऊस, शक्तिनगर, दिल्ली-७

३०. अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः। शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि।। (ऋग्वेद-अष्टक-८ अध्याय-१ भूमिका)

३१. यदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतोऽदुषदिति तन्मादुषभभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषम् तन्मानुषं सन् मानुषामित्याचक्षते।। ऐतरेय ब्राह्मण ३.२२

इमाम् अप्रसारयत्, अप्रथयत्। आख्यानानुसारेण पूर्वं जलमेवासीत्। प्रजापतिः चिन्तयामास कथमेतत् कठोरं कुर्यामिति। असौ एकस्थिरकमलपत्रमपश्यत्। यत्र आश्रितोऽयं वराहरूपो भूत्वा जले अवातरत्। तेन नीचैः पृथ्वी लब्धा। तस्यांशं नीत्वा असौ बहिः निस्सृतः। तेन सा कमलपत्रे प्रसारिता। प्रसारितत्वात् प्रथनत्वादेव पृथिव्याः पृथिवीत्वम्।[३२]

अनेकधा ब्राह्मणग्रन्थाः शब्दानां यथार्थतः निर्वचनेनार्थस्य व्यापकं स्पष्टीकरणं विदधते वेदप्रकृतेरनुकूलं तन्निर्वचनं वैदिकशब्दानां प्रसङ्गानुसोरण अर्थावबोधने ज्ञापने च सहायकं भवति। यथा-सरित् शब्दस्य निर्वचनमधोनिर्दिष्टरूपेण प्राप्यते। ....सर्वा स्रवन्ती सरितः[३३] तदनुसारं स्रु धातोराधारा न केवलं नद्य एव परं यत् किमपि स्रवणशीलं तत्त्वजातं वर्त्तते, तत् 'सरित्' अस्ति॥ ब्राह्मणग्रन्थानां प्रयोगविषयेऽपि महर्षियास्कस्योक्तिरियं सततमवधेया। **बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**[३४] तस्माद् विना विवेकेन सर्वत्र सर्वदा च ब्राह्मणानां वेदव्याख्या पूर्णतया आधारमात्रतया नैव स्वीकरणीया। विवेकदृष्ट्या वैदिकसूक्तगतपदानामर्थविषये कदाचित् ब्राह्मणेषु विस्मयोत्पादका अङ्गीकरणयोग्याः संकेता उपलभ्यन्ते। यथा- **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** अस्य मन्त्रांशस्य **'कस्मै'** शब्दः केवलं ब्राह्मणानां साहाय्येन स्पष्टो भवति। शतपथ-ब्राह्मणेन अस्यार्थ अनेन प्रकारेण प्रदत्तः-**'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै'**[३५] मैत्रायणीकाठकसंहितयोश्च पूर्वमेवार्थः प्रतिपादितः येनेमां ब्राह्मणव्याख्याँ सुतरां पुष्णाति।[३६] अत्र **'क'** संज्ञया सर्वनाम प्रत्यय 'स्मै' संयोगेन या असंगतिः दृश्यते सा वस्तुतः वैदिकप्रकृतिरेव। ऋग्वेद- (१.१०८.१०) इति अस्मिन्नपि **'परमस्याम्, मध्यमस्याम्, अवमस्याम्'** सदृशाः सर्वनामविभक्त्यन्तानि नामपदानि विलोक्यन्ते। अस्य प्रयोगस्यौचित्यं पाणिनिसूत्रे महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः स्वभाष्ये एवं ब्रवीति[३७]- **'सर्वस्य हि सर्वनामसंज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः प्रजापतिश्च कः॥'** उपर्युक्तैः ब्राह्मणोद्धरणैः स्पष्टमवगम्यते यत् ब्राह्मणानां पद्धतिः वेदव्याख्यायै भाषायाः सम्यगवबोधाय च निर्वचनस्य महत्त्वं विशदं निर्दिशति।

वैदिकभाषाज्ञाने एको अन्यः महत्त्वपूर्णः ग्रन्थो वर्त्तते, येन विना वेदभाषावगमनं सुदुष्करमेव न असम्भवञ्चेति नात्र काचिदत्युक्तिः। तं विहाय न कोऽपि वेदभाष्यकारः पदक्रमणमपि कर्त्तुं पारयति वेदार्थे।

---

३२. आपो वा इदमग्रे सलिमासीत् तेन प्रजापतिरश्राम्यत्। कथमिदं स्यात् सोऽपश्यत्। पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोऽमन्यत। अस्ति वै तत् यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति। स वराहो रूपं कृत्वा प्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।। तैत्तिरीय ब्रा०१-१-३-६

३३. तैत्तिरीय ब्राह्मण- ३.१२.७.३

३४. निरुक्त-७.१२

३५. शतपथ-ब्राह्मण-७.४.१.१९

३६. मैत्रायणी संहिता (१.१०.१०) प्रजापतिर्वे कः। काठक संहिताः- (३६.५) प्रजापतिर्वै ताः प्रजाः वरुणेनाग्राहत्। प्रजापतिः कः।।

३७. कस्येतः ४.२.२५

षड्वेदाङ्गेषु तस्य अन्यतममनितरसाधारणमहत्त्वं सर्वैः वेदविद्भिः समादरेण स्वीक्रियते सततं परिशील्यते च। अस्य ग्रन्थस्य नाम **'निरुक्तशास्त्रम्'** अभिहितम्। यतो हि असौ ग्रन्थकारः महर्षियास्कः निघण्टुशास्त्रस्य वैदिकशब्दानामर्थोद्घाटनार्थं समासेन व्यासेन वा, व्याकरणेन स्वोपज्ञेन वा, ब्राह्मणग्रन्थेन ध्वनिसाम्येन वा, आरण्यकग्रन्थेनोपनिषद्भिर्वा निर्वचनानि ब्रवीति॥

निरुच्यते निःशेषेणोपदिश्यते निर्वचनविधया तत्तदर्थावबोधनाय पदजातं येन यत्र वा तन्निरुक्तम्। तच्च निरुक्तं पञ्चविधमुक्तं हरिकारिकायाम्-

वर्णागमौ वर्णविपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

अस्मिन हि निरुक्तशास्त्रे वैदिकानां शब्दानां नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपेणविभक्तानाञ्च निर्वचनरूपेणार्थादिकं निरूप्यते। निरूपितांश्च तानुदाहरणेन सम्पादयन् पूर्वाचार्याणाञ्च मतभेदं प्रदर्शयन् तदुपरि पूर्वपक्षमुद्भाव्य तच्च क्वचित् प्रस्तुवन् क्वचिदनुमोदयन् यास्काचार्यः स्वकीयं निर्वचनप्रकारमवगमयति। एतदेव वैशिष्ट्यं विज्ञाय व्याकरणान्निरुक्तस्य पृथक्शः वेदाङ्गत्वम् उररीकृतमाचार्यैः। तथा च प्राह यास्काचार्यो निरुक्ते - **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च॥**[३८] न हि निरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति इति वृद्धानुशासनम् निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्या नान्यथेति भाष्यकारः। तस्याँ परम्परायामेकं शास्त्रीयस्वरूपमुपपादयन् यास्कः वेदव्याख्यायाँ निर्वचनं निरुक्तशास्त्रञ्च तर्कपूर्वकं प्रतिष्ठापयति। निर्वचनानां विषये यास्काचार्यस्य **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** इत्येव सिद्धान्तः वेदव्याख्याँ प्रमुखनिर्देशकस्य भूमिकां निर्वहति। विशेषरूपेण ये शब्दाः व्याकरणनियमेन न निष्पाद्यन्ते तेषां शब्दानां अर्थावगन्तुमाख्याता एव माध्यमभूताः प्रतीयन्ते। यद्यपि आधुनिक-तुलनात्मक-भाषावैज्ञानिक-भारोपीयकल्पितानां धातूनां माध्यमेन यूरोपीयेरानीभाषायाः माध्यमेन वा तेषामर्थानां सम्यगवगतिः सम्भवा अस्ति। मन्ये एतादृशेम्यः शब्देभ्य एव विशेषरूपेण बलपूर्वकं यास्कः **'न त्वेवं न निर्ब्रूयात्'** उक्त्वा व्याख्याकारं सचेतं कुरुते। महर्षियास्कः स्वेच्छाचारमपाकर्त्तुमेकमन्यमपि सिद्धान्तं प्रतिपादयति- **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** अर्थात् अर्थं हृदि निधायैव निर्वचनं प्रतिपत्तव्यम्॥ तात्पर्योऽयं विद्यते यन्निर्वचनं तदेव यत् खलु शब्दस्यैकमर्थमनेकार्थकं वा निर्वहेत्। प्रचलितानामर्थानामानुकूल्यं निर्वहेत्। एतादृशमर्थं समक्षे आनयेत् यः तर्कसङ्गतः प्रसङ्गानुकूलचश्च भवेत्। यथा- मन्त्रस्य[३९] **'बृबूकम्'** पदमत्यन्तमस्पष्टं वर्तते, परन्तु यास्काचार्येण **'ब्रू'** शब्दार्थे अथवा **'भ्रंश'** पतनार्थे धातुभ्याँ निर्वचनं विधाय **'शब्दः कुर्वन् अन्तरिक्षात् नीचैः पतनशीलः जलमर्थः**

३८. निरु० १.१५,१७

३९. ऋ० १०.२७.२३

विशदीकृत:'।[४०] एवमेव यास्क: अग्नि:, इन्द्रादीनां देवतानां नाम्नामपि निर्वचनानि ब्रूते। यस्मात् भौतिकपदार्थैः सार्धं ता आध्यात्मिकानामीश्वरीयतत्त्वानाञ्च प्रतीकभूता अपि सिद्ध्यन्ति । यास्क: कानिचिदेतादृशानि पदान्यपि निर्दिशति, येषां निर्माणे धातोरवदानं नैव परं केवलं शब्दामनुकरणानामेव योगो भवति। विहङ्गेषु एतानि नामानि विपुलमात्रासु लभ्यन्ते।[४१] शन्तनु इत्यस्य पदस्य निर्वचनमपि एतादृश्याँ श्रेण्यामायाति। यतो हि तस्य जनस्य भृशं **'शं तनोस्तु'**[४२] वाचने तस्य इदमेव नाम अभवत्, शन्तनु इति। एवमेव एकमन्यं निर्वचनम् ओषधी पदस्य **'दोष+धी'** इत्युक्त्वा ब्रवीति यास्काचार्य:। **'दोषान् धावति क्षालयति इति ओषधी:।'** धावु गतिशुद्धयो: शुद्ध्यर्थे धातो: प्रयोगो निर्दिशति। शारीरिकमानसिकयो: दोषयो: शोधयति ओषधी:। अनया सेवनेन विकाराणां शमनं भवति, रोगा: निवृत्ता: जायन्ते, शरीर: स्वस्थो भवति सौषधी:।

शब्दानामर्थनिर्धारणे निर्वचने च प्रसङ्गस्य महत्त्वं सर्वातिशायि वर्त्तते। प्रसङ्गे सति इङ्गितमात्रेण अनुक्त्वैवाल्पशब्दप्रयोगेणैव वा सर्वोऽप्यर्थ: चित्रभाषावत् स्पष्टो भवति। प्रसङ्गस्यावहेलना कदापि न करणीया। यथार्थत एभिरवधानैः साकमेव निर्वचनानि वेदव्याख्यायाँ सहायकानि भवितुमर्हन्ति। तदैव तानि दुरूहाणि पदानि अवबोधयितुं शक्नुवन्ति। वेदस्य अध्येत्रे निरुक्तस्याध्ययनमसन्दिग्धरूपेणानिवार्यमस्ति। यतो हि बहुसहायकोऽयम्।

नैकस्थलेषु निरुक्तं वैदिकमन्त्राणामेव न, अपितु ब्राह्मणपदानामर्थमपि स्पष्टयति। यथा-ब्राह्मणेषु इन्द्रम् **'अहिल्यायै जार:'**[४३] उक्त:, परन्तु निरुक्तेनास्य स्पष्टीकरणमनेन प्रकारेण कृतम्। आदित्यमत्र जार इत्युच्यते असौ रात्रिं जीर्णयति,[४४] परन्तु निरुक्तस्याध्ययनं कुर्वता वेदस्याध्येत्रा शोधकर्त्रा च स्वविवेक: कदापि न परित्यक्तव्य:।

विवेक: किल सर्वविषयस्य शोधकर्त्रे परमावश्यक: परं वेदप्रसङ्गे तु एषा स्थिति: अपरिहार्या। प्राय: वेदाध्यायिनां सम्मुखे समस्येयं नितरामागच्छति यत् वैदिकभाषा सुदुर्बोधत्वेनार्थनिश्चेतुमसमर्थत्वेन च ते कां व्याख्यां, कमनुवादं भाष्यं वा आधारीकृत्य प्रवृत्ता: स्युरिति। एतस्मिन् विषये इयदेव वक्तुमभिलषामि यत् कस्मिन्नपि एकभाष्ये स्वमन्तव्यान् पूर्णतयानाधृत्य स्वविवेकेनार्थो निश्चेतव्य:। अद्य पर्य्यन्तं सर्वेषु वेदभाष्येषु, अनुवादेषु, व्याख्यासु चास्माभि: नितान्तपूर्णतायास्तु अभावो दरीदृश्यते सम्भाव्यते च। वेदविषये पूर्णो निश्चित: एकोऽर्थो न सम्भविष्यतीति। वेङ्कटस्कन्दोव्वटमहीधरसायणप्रभृतयो विद्वांस: भाष्यकारा: प्रायश: कर्मकाण्डेन

---

४०. बृबूकमित्युदकनाम। ब्रवीते: शब्दकर्म भ्रंशतेर्वा।। (निरुक्त२.२२)

४१. काक इति शब्दानुकृति:, तदिदं शकुनिषु बहुलम्।। निरुक्त- (३.१८)

४२. शन्तनु शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा।। निरुक्त- (२.१२)

४३. शतपथ-ब्राह्मणम्- (३.३.४.१८) षड्विंशब्राह्मणम्। (१.१)

४४. निरुक्त- (३.१६)

प्रभाविता: विलोक्यन्ते। नास्त्यत्र कश्चित् सन्देहावसर: यदेषु कर्मकाण्डीयव्याख्याग्रन्थेषु प्रत्यक्षतया मन्त्रव्याख्याया: प्रयासस्तु दृश्यते, परन्तु याज्ञिकार्थानामाग्रहत्वेनासौ प्रयत्न: नैकस्थलेषु तादृशोऽर्थसाधको नास्ति, यादृशोऽर्थबाधक:।

ब्राह्मणकथानां व्याख्याकाले एव ऐतरेयब्राह्मणस्योक्तिरियं सततं ध्यातव्या। **'परोक्षप्रिया हि देवा:'**[४५] अर्थात् देवेभ्य: परोक्षवचनानि प्रियाणि भवन्ति। मन्त्रेषु प्रयुक्तानां शब्दानां लोके प्रयुक्ता: शब्दसदृशा: अर्था: नानिवार्या:। वेदव्याख्यासन्दर्भे भाषाविज्ञानमपि विशेषसहायकं न भवितुमर्हति। यतो हि भाषाविज्ञानाधारे यदा शब्दानां मूले काल्पनिका: धातव उच्यन्ते तदासौ इदं रूढित्वेन प्रचलितमभवत्, यत एतेषां धातूनां नास्ति कश्चिदाधार:। अस्तु, पुनरपि शोधकर्त्रा वैदिकभाषाज्ञानार्थं सर्वै: भाष्यै व्याख्याभिश्च अवश्यं साहाय्यं ग्रहणीयम्। स्वयं पाणिनीयव्याकरणनिर्वचनस्वरप्रभृतीनां नियमानुसारेण मन्त्रावबोधं विना किञ्चिन्निर्णयग्रहणं न सुरक्षितं भविष्यति। अयं पन्था: परिश्रमापेक्षी, परञ्च श्रमावसाने सुखकर:। यथासम्भवं व्यत्ययस्य प्रयोग: परिहरणीय:। देवतानां स्वरूपनिर्धारणे पूर्णसावधानतया यत्नो विधेय:। ध्यातव्यं यत् कुत्रचिद् एकैके मन्त्रे, कुत्रचिच्च एकैकस्य सूक्तस्य विविधमन्त्रेषु देवतानामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादीनि स्वरूपाणि विकीर्णानि सन्ति। तानि सर्वाणि मनसि निधाय यथोचितं मन्त्राणां अभिप्रायो बोद्धव्य:। अस्माकं निर्देशका: भाष्यकारस्यानुवादस्य वा शब्दा: न स्यु:, अपितु मन्त्राणां मूलशब्दा: तेषामन्यप्रसङ्गेषु वैदिकप्रयोगाश्च भवेयु:।

विद्वद्भ्य: तर्करूपमृषिमतिक्रम्यान्य: कोऽपि निर्देशकसिद्धान्त: नोररीकरणीय:, विशेषतोऽद्यतनीये वैज्ञानिकयुगे, तच्च वेदप्रसङ्गे। वैशेषिकदर्शने कणादर्षेरपि इदं मन्तव्यमस्ति यद्वेदे बुद्धिपूर्वा वाग् वर्त्तते।[४६] यतो हि वागियमीश्वरस्य, अत एव प्रामाणिकञ्च **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'**।[४७] अन्यच्चास्मै तर्काय व्यापकस्वाध्यायस्य आवश्यकता भवति। योगसूत्रे पतञ्जलि: एकां सूक्तिं वदति-तदनुसारं स्वाध्यायेनैवेष्टदेवतया सह संगतिर्भवितुं शक्नोति।[४८] अन्यथा तस्मिन्नभावे जना धूर्त्ताणां, पूर्वाग्रहिणामविवेकिव्याख्याकाराणां जालेऽपि ग्रस्तो भवन्ति। तथा हि भारतश्लोक:-

सुरां मत्स्यान् मधुमांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्तै: प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम्।।[४९]

---

४५. ऐतरेय-ब्राह्मण- ३.४३, ७.३०

४६. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक-६.११

४७. तद् वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्- वैशेषिक- १.१३

४८. स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग:। योगसूत्र-२.४४

४९ महाभारत, शान्तिपर्व २६५.९-१०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०३२-३७)

ऋग्वेद में शक्ति-स्वरूप-विमर्श

डॉ० हरीश्वर दीक्षित[१]

सर्वशक्तिमान् श्री भगवान् के द्वारा प्रथित निर्मित एवं संवर्धित प्रपञ्च में परिदृयमान इस जगत् में आत्मरक्षार्थ एवं जगत् के कल्याणार्थ निर्मितिमादधती पोषयित्री तथा संहर्त्री **'शक्ति'** ही सर्वप्रथम प्रतिष्ठित की गयी। वह चाहे **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'**।[२] के रूप में सृजनात्मिका शक्ति हो, या यज्ञ की शक्ति हो, या मन्त्र की शक्ति हो, या स्वर्ग की शक्ति हो, या धर्म की शक्ति हो या देवताओं अथवा देवियों की शक्ति हो अथवा मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की शक्ति हो। इन सबकी शक्तियों में विविध रूपों में शक्ति के साथ 'परा' शब्द अन्तर्निहित है, जिसका अभिधेयार्थ ही है सर्वोच्च शक्ति, जिससे बढ़कर कहीं कुछ भी कोई भी नहीं हो सकता। यद्यपि शक्ति के लिए अंगरेजी में **Power, Energy** और **Capacity** शब्द आते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में यहाँ जो शक्ति शब्द विवेच्य है, उसके लिए **Power** शब्द ही उपयुक्त है। खींचतान कर **Capacity** को भी इसके अर्थ में लिया जा सकता है, किन्तु **Energy** किसी भी तरह से इस 'शक्ति' (पराशक्ति) के अर्थ में उचित नहीं बैठता। वैसे शक्ति शब्द विशुद्ध प्राचीन भारतीय शब्द है, जो वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी से स्फुरित हुआ है। प्राचीन विश्व की भाषाओं में इस पद के समकक्ष कोई सगोत्री शब्द भी नहीं मिलता, जो शक्ति पद में निहित वास्तविक शक्ति शब्द की शक्ति को द्योतित करता हो। व्याकरणशास्त्र में यह शक्ति पद पराशक्ति के रूप में शब्दतत्त्व के चार रूपों परा, पश्यन्ती और मध्यमा तथा वैखरी के रूपों में प्राप्त होता है:-

परा वाक् मूलचक्रस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया, वैखरी कण्ठदेशगा॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[३]

अतः व्याकरणशास्त्र वाक्शक्ति को ही पराशक्ति के रूप में स्वीकार करता है, जिसे वेदों में

---

१. उपाचार्य एवम् अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय सिगरामऊ, जौनपुर (उ०प्र०)-२२२१७५

२. ऋ० सं० १०.९०.१६

३. वाक्य पदीय ब्रह्मकाण्ड

मन्त्रशक्ति का नाम दिया गया है। मीमांसाशास्त्र धर्म-क्रिया-भावना की शक्ति को ही पराशक्ति के रूप में स्वीकार करता है तो दर्शन अदृष्ट शक्ति के रूप में मानता है। चाहे वह आत्मा, ब्रह्म, परमेश्वर अथवा अदृष्टशक्ति के रूप में ही क्यों न हो। साहित्य इसे ही कवित्व, बीज रूप संस्कार विशेष की, शक्ति स्वीकार करता है,[४] जिसके बिना काव्य का उद्भव असंभव है। यह संस्कार विशेष दैवी होता है, क्योंकि काव्य किया नहीं जाता काव्य हो जाता है, जो अपने मौलिक अर्थों में अपौरुषेय ही होता है और यहीं पर पराशक्ति को वाक्शक्ति या मन्त्रशक्ति के रूप में स्वीकारने की विवशता हो जाती है।

'शक्ति' शब्द अपने मौलिक रूप में ऋक्-संहिता में विविध रूपों में कुल १६ सोलह बार प्रयुक्त है।[५] इनमें चार बार (शक्तिः) कर्ता,[६] चार बार (शक्तिम्) कर्म[७] एवं दो बार (शक्तिभिः) करण[८] तथा छः बार इसके स्वतन्त्र प्रयोग[९] (शक्ती, शक्तीऽव, शक्तीऽवन्त, शक्तीः) दिखाई देते हैं। स्वतन्त्र उल्लेखों मे दो-दो बार 'शक्ती'[१०], 'एवं शक्तीः'[११], तथा एक-एक बार 'शक्तीऽवः'[१२] एवं 'शक्तीऽवन्त'[१३] के प्रयोग हुए हैं।

'शक्ति' शब्द भी व्याकरण की दृष्टि से वस्तुतः करण कारक के एक-वचन **'शक्त्या'** का पूर्वरूप अथवा प्राग्रूप[१४] है। एक स्थल पर **'शक्ती'** के साथ ही **'शक्तम्'**[१५] भी प्रयुक्त है, जिसका अर्थ सायण ने 'अभिमतम् धनम् दत्तम्' किया है। सामान्यतः **शक्तः** का अर्थ है-समर्थ जिसे अङ्ग्रेजी के **Capacity** शब्द से जाना जा सकता है।

वेदोत्तर कालीन ब्राह्मण धर्म-दर्शन के इतिहास में **'शक्ति'** पद की अवधारणाओं के प्रसंग में

---

४. शक्तिः कवित्वबीज रूपः संस्कारविशेषः'' - काव्य प्रकाश-कारिका-०३ की वृत्ति-प्रथम उल्लास।

५. ऋ० सं० १.३१.१८, ८३.३, १०९.३, २.३९.७, ३.३१.१४, ५७.३, ४.२२.८, ४३.३, ५.३१.६, ६.७५.९, २०.१०, २१.१०, ६८.८, १०.२५.५, ८८.१०, १३४.६

६. ऋ० सं० १.८३.३, ४.२२.८, ७.२०.१०, ७.२१.१०

७. ऋ० सं० २.३९.७, ३.५७.३, ४.४३.३, १०.१३४.६

८. ऋ० सं० १०.२५.५, ८८.१०

९. ऋ० सं० १.३१.१८, १०९.३, ३.३१.१४, ५.३१.६, ६.७५.९, ७.६८.८

१०. ऋ० सं० १.३१.८, ७.६८.८

११. ऋ० सं० १.१०९.३, ३.३१.१४

१२. ऋ० सं० ५.३१.६

१३. ऋ० सं० ६.७५.९

१४. ऋ० सं० १.१०९.३, ३.३१.१४

१५. ऋ० सं० ७.६८.८

अधिकांशत: इन्द्र और यत्र-तत्र, अश्विनीद्वय, अग्नि, इन्द्राग्नी, सोम, विश्वेदेवा एवं रथगोपा: की स्तुति में प्रसङ्गत: प्रयुक्त शक्ति के अभिप्राय ज्ञातव्य है। शक्ति के ऋग्वेदीय सन्दर्भ जिन देवताओं से सम्बद्ध हैं, उनमें इन्द्र प्रमुख है। इन्द्र के साथ सात बार, अश्विनीद्वय के साथ तीन बार, अग्नि के लिए दो बार और सोम, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवा: तथा रथगोपा: के लिए एक-एक बार इस शब्द के प्रयोग हुए हैं, जो शक्ति पद के मौलिक प्रयोग हैं। इसके अतिरिक्त, अवान्तर अर्थों के रूप में इन्द्र, विष्णु, अग्नि, वाक्सूक्तों में भी तथा अग्नि मारुत सूक्त में शक्ति के लिए 'क्रतु' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो शक्ति के अर्थ को द्योतित करता है। वाक् सूक्त में **'अहं राष्ट्री'** यह **'राष्ट्री'** शब्द शक्ति या सामर्थ्य (रानी की शक्ति) को ही द्योतित करता है। इन्द्र की व्युत्पत्ति **के प्रकरण में**[१६] सायणभाष्य टिप्पणी में **'इदि परमैश्वर्ये'** (शासन करना, प्रभुता स्थापित करना)। इन्दतेर्वा **ऐश्वर्यकर्मण:**[१७] **स्वमायया जगद्रूपत्वं परमैश्वर्यम्, तद्योगादिन्द्र:**[१८] अपनी शक्ति से जगत् रूप परम ऐश्वर्य से युक्त। इस परम ऐश्वर्य का प्रतिपादन **'इन्द्रो मायाभि: पुरु रूप ईयते'**[१९] ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् में है। **इन्दति शासनं करोति इति इन्द्र:।**[२०]

शक्ति के अर्थ में 'क्रतु' शब्द का प्रयोग अग्निसूक्त[२१], अग्निमारुत सूक्त[२२] में स्पष्टतया हुआ है। वहाँ पर पीटर्सन ने शक्ति के अर्थ में क्रतु का प्रयोग किया है अर्थात् 'कोई देवता या मनुष्य तुम्हारी शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकता।[२३]' यहाँ यह ध्यातव्य है कि क्रतु शब्द ग्रीक भाषा के 'क्रतोस्' (Kratos) के समान है, जो शक्ति वाचक है। अग्निसूक्त[२४] में रॉथ इसका अर्थ 'शक्ति' तथा मैकडानल 'सामर्थ्य' करते हैं। पेत्रोगार्द कोश का अनुसरण करते हुए मोनियर विलियम्स इसका अर्थ, अन्तर्दृष्टि, शक्ति या विचारणा करते हैं। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त[२५] में क्रतुना अर्थात् **'वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा शक्त्या वा सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन परिगृहीत इति'।।**

---

१६. ऋग्वेद १.३२.१

१७. निरु० १०.१

१८. सायणभाष्य ऋ० १.३.४

१९. ऋ०सं० ६.४७.१८ श० ब्रा०-१४.५.५.१९, बृ० उप०- २.५.१९

२०. चन्नवीर कवि, काशकृत्स्न धातुपाठ १/९, भानु जी दीक्षित अमरकोश १/४१,

२१. ऋ० सं० १.१.५ – अग्निर्होता कविक्रतु:-------------।।

२२. ऋ० सं० १.१९.२ – नहि देवो न मर्त्यो क्रतुं पर ------------।।

२३ ऋ० सं० २.१२.१ यो जातस्व -------------देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषद ------।।

२४. ऋ०१.१.५

२५. ऋग्वेद २.१२.१

शक्ति के अर्थ में 'वीर्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त,[२६] विष्णुसूक्त[२७] में शक्ति के अर्थ में हुआ। ग्रासमान के अनुसार वीर्य का अर्थ सामर्थ्य (capacity) है। लुडविग - अपनी बल, शक्ति के कारण विष्णु प्रशंसित होता है।' वहीं एक स्थान पर इन्द्रसूक्त में 'शूष्म'[२८] (शुष्मात्) का अर्थ पीटर्सन ने श्वास अर्थात् शक्ति किया है। इसी प्रकार 'देवत्व' तथा 'महित्व'[२९] शब्द भी शक्ति को ही द्योतित करते हैं।

उपर्युक्त शक्ति के अवान्तर अर्थों में प्रयुक्त ये सभी शब्द अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने अर्थों में प्रसंगानुकूल 'पराशक्ति' को ही द्योतित करते हैं।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल की एक ऋचा में इषीरथ-पुत्र कुशिक विश्वामित्र का वचन है- **'हे इन्द्र! हम** तुम्हारे महत् सख्य एवं शक्ति की कामना करते हैं-**'मह्या ते सख्यं वश्मि शक्तिः'**॥[३०] **'शक्तिः'** पद में वस्तुतः प्राप्ति की कामना है और तदनुकूल योग्यता अथवा विशेषाधिकार भी, जो देवस्तुति की फलश्रुति रूप में प्रतिफलित है। **'शक्तीऽव'** का उल्लेख ऋग्वेद में मात्र एक स्थल पर हुआ है, वह भी इन्द्र के सम्बोधन के रूप में। सायण ने इसका अर्थ सम्बोधन के अर्थ में शक्तिमान् तथा शक्ति के रूप में वज्र अथवा कर्म का द्योतक बताया है।[३१] ऋग्वेद संहिता में वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि 'तुम्हारे (इन्द्र के) स्तोत्र में मेरे लिए शक्ति हो।[३२] स्तोत्र में निहित शक्ति की कामना-विशिष्ट-वाक्शक्ति अथवा मन्त्रशक्ति को प्रतिबिम्बित करती है, जो पराशक्ति स्वरूपा है। शक्ति का आयुध रूप झलकता है-दशम मण्डल में इन्द्र के लिए ही। इन्द्रशक्ति धारक है और शक्ति है विशाल अंकुश की तरह।

दीर्घं ह्यंकुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः।
पूर्वेण मघवन्पदाजो वयाँ यथा यमो देवी।
जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीनत्॥[३३]

'हे मन्तुम (ज्ञानी) इन्द्र! विशाल अंकुश के समान शक्ति नामक अस्त्र को तुम (बिभर्षि) धारण करते हो। हे मघवा! जैसे छाग अपने अगले चरणों से वृक्ष-शाखा को खींचता है, तथैव तुम उस 'शक्ति' से शत्रु को

---

२६ ऋ० सं० १.३२.१ - इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं, यानि चकार प्रथमानि वज्री॥

२७ ऋ० सं० १.१५४.२- प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण॥

२८. ऋ० सं० २.१२.१

२९ ऋ० सं० १.११५.४- तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं --------॥

३० ऋ० सं० 'शक्तीः तत्सम्बन्धीनि दानानि'- द्र० सा० भा० ऋ. सं.-३.३१.१४

३१ ऋ० सं० ५.३१.०६, शक्तीव शक्तिमान् शक्तिर्वज्रं कर्म वा।

३२. ऋग्वेद ७.२०.१० तथा ७.२१.१०

३३. ऋ० सं० १०.१३४.०६

खींचकर गिराते हो। भद्रा (कल्याणकारी) देवी माँ ने तुम्हें उत्पन्न किया है।' यहाँ उस शक्ति से पराशक्ति की तरफ ही संकेत है।

इन्द्र के बाद अश्विनीद्वय ऐसे महत्त्वपूर्ण देवता हैं, जिनके मन्त्रों में प्रयुक्त है-शक्ति। अश्विनीद्वय के लिए तीन बार प्रयुक्त इस शब्द के प्रयोग त्रिविध हैं।[३४] अश्विनीद्वय की प्रशस्ति में गृत्समद की प्रार्थना है कि 'दोनों हाथों के समान '**शक्ति**' को और पृथ्वी के समान '**लोक**' को प्रदान करके हमको अलंकृत करो। हे अश्विनी हमारी इन स्तुतियों को शान चढ़ाई हुई (धारदार) '**स्वाहा इति**' की तरह तीक्ष्ण करो।[३५]' यहाँ '**हस्तेन शक्ति**' '**क्षामेव रजांसि**' और '**क्ष्णोत्रेणैव स्वधितिम्**' के साथ '**इमा गिर:**' का प्रयोग सामान्य नहीं, अपितु यहाँ शक्ति, मात्र हाथों का पराक्रम (सामर्थ्य) ही नहीं, अपितु '**आयुध**' प्रतीत होता है। इसी तरह पृथिवी के समान लोक और तीक्ष्णाकृत स्वधिति (असि से भिन्न युद्धास्त्र कुल्हाड़ी) की धार की तरह स्तुति वाक् की कामना भी साधारण नहीं, अपितु '**इमां गिर:**' इन वचनों को प्रकारान्तर से मन्त्ररूपा वाक् की तरह प्रभावशाली कहा गया है।

शक्ति पद (शक्ति एवं शक्तिभि: रूप में) अग्नि से दो बार जुड़ा है। प्रथम ऋग्वेद के अन्तिम स्तर में[३६] तथा दूसरा एक अन्य स्थल पर आया है- 'शक्ति' जिसके देवता है-इन्द्राग्नी। विवेच्य है यही सन्दर्भ जिसमें कहा गया है कि = सन्तति का क्रम न टूटे। इस प्रार्थना के साथ पैतृक-शक्ति (पितरों की सन्तानोत्पादन परम्परा) का सतत नियमन करते, वेदिगर्भ में इन्द्राग्नी द्वारा प्रदत्त जो (मन्त्ररूपा वाग्जन्य) सुख है, उससे उत्पादन समर्थ (वृषण: रेत: निषिञ्चक:) यजमान आह्लादित होकर स्तुति करते हैं। (मदन्ति)।[३७] 'पितॄणां शक्ती' में पितरों से अर्जित सन्तानोत्पत्ति की यहाँ क्षमता की व्यंजना स्पष्ट है कि 'शक्ति' का एक विशिष्ट अर्थ है-सृजन कर्म अथवा सन्तति उत्पादन शक्ति। इसी अर्थ में हिरण्यस्तूप ऋषि भी अग्नि से सन्तति उत्पादन की प्रार्थना करता है-

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा।

---

३४. ऋ० सं० २.३९.६, ४.४३.७, ७.६८.८

३५. ऋ० सं० हस्तेव शक्तिमपि संसदी न: क्षामेव न: समजतं रजांसि। २.३९.७ इमा गिरो अश्विना युष्मयन्ती: क्ष्णोत्रेणैव स्वधितिं सं शिशीतम्।

३६. ऋ० सं० ३.१०.१८, १०.८८.१०

३७. माच्छेद्म रश्मीरिति नाधमाना: पितॄणां शक्तीरनुयच्छमाना:। इन्द्राग्नीभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्रदी धिषणाया उपस्थे। ऋ० सं० १.१०९.३ तुलनीय- ऋ. सं. १.१.३ - अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे यशसं वीरवत्तमम्।

उत प्रणेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या॥[३८]

यहाँ 'सुमत्या वाजवत्या' के द्वारा प्रजा एवं सम्पत्ति (सिरजे जाने) सृजन की कामना की है। 'विश्वेदेवाः' देवों को सम्बोधित विश्वामित्र की एक ऋचा में '**शक्ति**' का अभिप्राय स्पष्टतः '**गर्भाधान शक्ति**' है, जो गर्भधारण कराने तथा करने दोनों अर्थों में है:-

या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन्।

अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि॥[३९]

अर्थात् जो पत्नियाँ कामवर्षक (रेतः सेचन) के लिए '**शक्ति**' सामर्थ्य को चाहती हैं। '**जामि**' का अर्थ पत्नी होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद में 'शक्ति' मूलतः तीन अर्थों में प्रयुक्त है-

(१) मन्त्रशक्ति या वाक्शक्ति के रूप में[४०]

(२) 'शक्तिः' उत्पादन या प्रजनन शक्ति के रूप में।[४१]

(३) 'शक्तिः' 'आयुध' के अर्थ में।[४२]

अतः ऋग्वेद में 'शक्ति' शब्द उपर्युक्त त्रिविध सामर्थ्य से अनुप्राणित है।

अतः ऋग्वेद के सभी देवताओं की भिन्न-भिन्न शक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में स्तुत है, उसके विविध प्रयोजन हैं, किन्तु वह अपने सम्बन्धित अर्थों में पराशक्ति ही है। वही वाक् देवी ऋग्वेद से होती हुई ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा पुराणों में अनेक रूपों में प्रकट हुई है।

---

३८. ऋ० सं०१.३१.१८

३९. ऋ० सं० ३.५७.३

४०. ऋ० सं० १.३१.१८ अग्निसूक्त, ७.२०.१० एवं ७.२१.१० इन्द्र सूक्त १०.२५.५- सोम सूक्त, २.३९.७- अश्विनीद्वय से सम्बन्धित सूक्त।

४१. ऋ० सं० १.१०९.३, ३.५७.३, १०.८८.१०

४२. ऋ० सं० १०.१३४.६, ६.७५.९, ६.७५ सम्पूर्ण उन्नीस मन्त्रों में, २.३०.७

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०३८-४३)

वेदों में प्रयुक्त शिल्पी-वाचक शब्द

डॉ० अमलचन्द्र राय वेदालंकार[1]

वेदों में शिल्पिन् शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता, किन्तु उषा और रात्रि को सुशिल्पे अर्थात् उत्तम शिल्प वाली कहा गया है। सुशिल्पा का अर्थ उत्तम शिल्पी किया जा सकता है। अन्य जो शब्द शिल्पी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, उनका वर्णन किया जा रहा है।

कारु

अमरकोष में कारु शब्द शिल्पी का वाचक पठित है-कारु शिल्पी।[2] वैदिककोष निघण्टु में कारु शब्द स्तोतृवाचक नामों में पठित है।[3] तदनुसार वेदों के सायणभाष्य में प्रायः इसका अर्थ स्तोता, स्तुतिकर्ता, ऋत्विज या स्तुतिकर्ता यजमान किया गया है। निरुक्त में कारु का अर्थ **'स्तोमों का कर्ता'** लिखा है।[4] किन्त स्वामी दयानन्द ने उणादि १/१ की वृत्ति में कारु का अर्थ कर्त्ता और शिल्पी दोनों दिये हैं। उन्होंने अपने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में भी अनेक स्थलों पर कारु का अर्थ शिल्पी किया है। यथा-

१. ऋ. १/८३/६ कारुः स्तुत्यानां शिल्पकर्मणां कर्त्ता।

२. ऋ. १/१०२/९ कारुं शिल्पकार्यकर्तारम्।

३. ऋ. २/४३/१ कारवः कारुकाः (शिल्पिनः)।

४. ऋ. ३/३३/९ कारवे शिल्पिने।

५. ऋ. ३/३९/७ कारो कारकस्य शिल्पिनः।

६. ऋ. ४/१६/३ कारून् शिल्पिनः।

७. ऋ. ५/३३/७ कारून् शिल्पिनः

८. ऋ. ६/२१/१ कारो शिल्पिनः

८. ऋ. ६/४५/३३ कारवः शिल्पिनः

---

१. पूर्व शोधछात्र, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. अमरकोष २/१०/४

३. निघ. ३/१६

४. निरु. ६/४

९. ऋ. ७/२/७ कारु शिल्पविद्याकुशलौ पुरुषार्थिनौ॥

१०. यजु.२९/३२ कारु शिल्पिनौ।

११. यजु. ३४/४८ कारो शिल्पिन:।

कतिपय मन्त्रों के दयानन्द भाष्य में कारु का शिल्पी अर्थ करते हुए भावार्थ में शिल्प या शिल्पी का महत्त्व भी वर्णित किया गया है। यथा-

१. हे जगदीश्वर! कृपा करके हम लोगों में उत्तम धन देने वाली सब शिल्पविद्या के जानने वाले उत्तम विद्वानों को सिद्ध कीजिये।[५]

२. जैसे हम आत्मसम्बन्धी ज्ञान और शिल्पक्रिया कौशल का सेवन करते हैं, वैसे आप लोग भी करें।[६]

३. जो जन विद्या और पुरुषार्थ को बढ़ाते हैं, वे सात प्रकार के शिल्पी विद्वानों को रखके सब कार्यों को सिद्ध करा कामसिद्धि करने में समर्थ होते हैं।[७]

४. हे राजन्! आप शूरवीर विद्वान् शिल्पी जनों की रक्षाकर प्रजाओं का निरन्तर पालन करके संग्रामों में शत्रुओं को जीतिये।[८]

५. मनुष्यों को चाहिए कि सदैव प्रशंसनीय कर्मों का सेवन और शिल्पविद्या के विद्वानों का सत्कार करके जीवन, बल और ऐश्वर्य को प्राप्त होवें।[९]

तक्षा

तक्ष धातु से उणादि द्वारा कनिन् प्रत्यय करने पर तक्षन्, शब्द बनता है।[१०] उसके प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप तक्षा है। अमरकोष में तक्षा शब्द बढ़ई वाचक माना गया है।[११] वेद में तक्षा का प्रयोग केवल चार बार हुआ है। वहाँ यह शिल्पी के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। बढ़ई और शिल्पी में अन्तर यह है कि बढ़ई केवल लकड़ी का काम करता है और शिल्पी मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, लोहा, चांदी, सोना आदि सभी से शिल्प की वस्तुएं तैयार करता है। वेद के उक्त चार स्थल हम यहाँ दे रहे हैं:-

---

५. ऋग्वेद १/३१/८

६. ऋग्वेद ३/३९/७

७. ऋग्वेद ४/१६/३

८. ऋग्वेद ५/३३/७

९. यजुर्वेद ३४/४८

१०. उणादि १/१५६

११. अमरकोष २/१०/२

१. **तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्, ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।**[१२] शिल्पी टूटे-फूटे सामान को, वैद्य रोगी को और ब्रह्मा यजकर्त्ता को चाहता है।

२. **नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः।**[१३] जो लकड़ी आदि गढ़-छील कर और लोहे आदि को ठोक-पीट कर सूक्ष्म करते हैं, वे शिल्पी तक्षा कहलाते हैं। **'नमः'** शब्द निघण्टु के अनुसार अन्नवाची है।[१४] स्वामी दयानन्द अपने यजुर्वेद भाष्य में उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-जो विद्वान् लोग पदार्थ विद्या को जानके अपूर्व शिल्प कार्यों को सिद्ध करें, उनको परितोषक आदि देकर प्रसन्न करना चाहिए।[१५]

३. **मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणाम्।**[१६] इसका आशय है कि मेधा के लिए रथकार को जानो और धैर्य के लिए शिल्पी को जानो। रथकार जो भूयान, जलयान, अन्तरिक्षयान तथा अन्य विविध यान बनाता है। उससे उनकी मेधा प्रकट होती है। शिल्पी जो बहुत समय लगा कर कला-कौशल या शिल्प की वस्तुएं तैयार करता है, उससे उसका धैर्य प्रकट होता है।

४. **यत् त्वा शिक्वः पराऽवधीत् तक्षा हस्तेन वास्या।**
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्।।[१७]

यह मन्त्र फालमणि के सूक्त का है। इसका अर्थ है- शिक्षा प्राप्त शिल्पी हाथ से और वास्या से गढ़ कर जिस लोहे के फाल को तैयार करता है, उसे पवित्र जल धोलकर शुचि कर देते हैं।

तष्टा

तनूकरणार्थक तक्ष धातु से तृच्-प्रत्यय करने पर तष्टृ शब्द निष्पन्न होता है। उससे प्रथमा विभक्ति के एक वचन में तष्टा बनता है। संस्कृत में तष्टा का सामान्य अर्थ तरखान या बढ़ई होता है, किन्तु वेद में यह भी व्यापक रूप से शिल्पी अर्थ को देता है। यथा-

१. **अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टा।**[१८] यहाँ दयानन्दभाष्य में 'तष्टा' का अर्थ 'तनूकर्ता शिल्पी' लिखा है। मन्त्रवाक्य का तात्पर्य यह है कि इस इन्दु के लिए मैं स्तोम रचता हूँ, जैसे शिल्पी रथ को अर्थात्

---

१२. ऋग्वेद ९/११२/१

१३. यजुर्वेद १६/२७

१४. निघण्टु २/७

१५. यजुर्वेदभाष्य १६/२७

१६. यजुर्वेद ३०/६

१७. अथर्ववेद १०/६/३

१८. ऋग्वेद १/६/४

भूयान, समुद्रयान तथा विमान को रचता है।

२. उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठयामयी।[१९] इस मन्त्र में वृक नाम से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा के तुल्य विद्वान् की गति का वर्णन है और उसके लिए उपमा दी गयी है-पृष्ठरोगी शिल्पी की। दयानन्द के पदार्थ में लिखा है-'तष्टेव यथा तक्षक: शिल्पी विद्याव्यवहारम् विज्ञापयति तथा।'[२०]

त्वष्टा

त्विष दीप्तौ धातु से उणादि द्वारा तृन् प्रत्यय करने पर त्वष्टृ शब्द निष्पन्न होता है,[२१] जिसका प्रथमा विभक्ति एकवचन में त्वष्टा रूप बनता है। निरुक्त में इसे 'त्वर' और 'अशूङ्' व्याप्तौ धातु के योग से, 'त्विष' धातु तथा तनूकरणार्थक 'त्वक्ष' धातु से बनाया गया है।[२२] शाकपूणि आचार्य के मत में इसका 'अग्नि' अर्थ है।[२३] निरुक्त में भी इस को मध्यमस्थानीय तथा द्युस्थानीय दोनों प्रकार के देवों में पठित किया गया है।

अत: इसके अर्थ वायु विद्युत् तथा सूर्य भी होते हैं। जब त्वष्टा देव रूप में वेद में नहीं आता, तब इसका अर्थ शिल्पी होता है। शिल्पी अर्थ में दयानन्द भाष्य के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं-

१. त्वष्टारं छेदनकर्त्तारं सूर्यं शिल्पिनं वा।[२४]

२. त्वष्टेव उत्तम: शिल्पीव।[२५]

३. त्वष्टृमान् त्वष्टार: उत्तमा: शिल्पिनो विद्यन्ते यस्य स:।[२६]

ब्राह्मणग्रन्थों में भी त्वष्टा को रूपों का कर्त्ता शिल्पी माना गया है। यथा-

१. त्वाष्ट्राणि वै रूपाणि। शत ब्रा. २/२/३/४

२. त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे। शत ब्रा. ४/५/५/८

३. त्वष्टा वै रूपाणामीशे। तै० ब्रा० १/४/७/१

ऋग्वेद के दयानन्द भाष्य में परमात्मा के साथ विकल्प रूप में शिल्पाग्नि को त्वष्टा माना गया है,

---

१९. ऋग्वेद १/११५/१८

२०. ऋग्वेदभाष्य १/११५/१८

२१. उणादि २/९७

२२. द्रष्टव्य निरु ८/१४

२३. निरु ८/१५

२४. ऋग्वेद१/२२/९

२५. ऋग्वेद४/४२/३

२६. ऋग्वेद६/५२/११

क्योंकि वह पदार्थों को अपने ताप से विभक्त करता है-**त्वष्टारं दुःखाना छेदकं (परमात्मानं) सर्वपदार्थविभाजितारं (भौतिकमग्निं वा)** मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि -**यह भौतिक अग्नि सब पदार्थों के छेदक, रूप गुण वाला और सब द्रव्यों का प्रकाशक, सबसे उत्तम और शिल्प विद्या का अद्वितीय साधन है।**[२७]

ऋभव:

वैदिक कोष निघण्टु में ऋभु मेधाविवाचक है।[२८] निरुक्त के अनुसार आदित्यरश्मियाँ भी ऋभु कहलाती हैं- **आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते।** [२९] ऋभव: को निघण्टु एवं निरुक्त में मध्यमस्थानीय देवों में पठित किया गया है। अत: इनका अर्थ वायु, विद्युत् भी होता है। निघण्टु में ऋभु मेधावी- वाची शब्दों में भी परिगणित है।[३०] अत: मेधावी शिल्पी भी ऋभु कहलाता है। इनकी अनेक शिल्प-कृतियों का वर्णन ऋग्वेद में आता है। ये गाय के चमड़े से दूध देने वाली सचमुच की गाय बना देते हैं और उसे बछड़े से संयुक्त कर देते हैं। बछड़ा उस गाय का दूध पीता है। ये बूढे माता पिता को पुन: युवा कर देते हैं। ऐसे त्रिचक्र रथ का निर्माण करते हैं, जिसमें न घोड़ा जुता होता है, न लगाम होती है, फिर भी वह चलता है। ये एक पात्र (चमस) को चतु: शाख कर देते हैं अर्थात् देखने से वह एक ही पात्र लगता है, किन्तु उसके अन्दर चार पात्र होते हैं। ये इन्द्र के लिए दो घोड़ों का निर्माण करते हैं।

विश्वकर्मा

ऋग्वेद १०म मण्डल के ८१ और ८२ सूक्त विश्वकर्मा विषयक हैं। इनमें आलंकारिक शैली से विश्वकर्मा द्वारा द्यावापृथिवी आदि सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इन सूक्तों के कुछ मन्त्रों की व्याख्या यास्क, सायणाचार्य आदि ने अधिदैवत तथा अध्यात्मपरक की है। किन्तु वेदों में जहाँ विश्वकर्मा नाम से मानव कलाकार की चर्चा मिलती है, वहाँ विश्वकर्मा का अर्थ मानव शिल्पी हो सकता है। यथा अथर्ववेद के भूमिसूक्त में कहा गया है-**यस्याँ यज्ञं तन्वते विश्वकर्माण:**[३१] अर्थात् जिस राष्ट्र भूमि में विविध शिल्प की वस्तुओं का निर्माण करने वाले शिल्पीजन शिल्पयज्ञ का विस्तार करते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद में विश्वकर्मा द्वारा इष्टका (ईंट) को अन्तरिक्ष में भेजा जा रहा है। यहाँ विश्वकर्मा वैज्ञानिक शिल्पी और इष्टका (ईंट) अन्तरिक्ष में भेजे जाने वाले

---

२७. ऋग्वेद१/१३/१०

२८. निघ: ३/१५

२९. निरु ११/१६

३०. निघ० ३/१५

३१. अथर्ववेद१२/१/१३

उपग्रह का उपलक्षण है ।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीम् ।

प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृंहान्तरिक्षं मा हिंसी॥[३२]

हे इष्टका से उपलक्षित कृत्रिम उपग्रह! विश्वकर्मा (वैज्ञानिक शिल्पी) तुझे अन्तरिक्ष के पृष्ठ में पहुंचाये, जो तू बहुत बड़ा और विस्तार वाला है। तू अन्तरिक्ष को नियन्त्रित कर, अन्तरिक्ष को दृढ़ कर, तू अन्तरिक्ष की हिंसा मत कर।

शिल्पी के वाचक उपरिलिखित शब्दों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अग्नि, अश्वियुगल आदि कतिपय देवों के अर्थ भी शिल्पीपरक किये हैं। अश्विनी दो हैं, उनमें से एक को याननिर्माता शिल्पी माना है और दूसरे को यानचालक शिल्पी॥

---

३२. यजुर्वेद १४/१२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०४४-५१)

वैदिक वाङ्मय में मनुष्य की आयु एवं उपभोग के उपाय

डॉ० सुभाषचन्द्र शास्त्री[1]

'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' यज्ञो मे आयुर्दधातु' इन वैदिक मन्त्रांशों में स्पष्टतया निर्दिष्ट है कि यज्ञ द्वारा आयु वृद्धि होती है। यज्ञ मेरी आयु को धारण करे।

ईश्वर ने मानव शरीर को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है। सभी देवों ने अन्य शरीरों को नकार कर मनुष्य शरीर में ही निवास करना पसन्द किया। कहा भी है-**'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** यदि मानव उचित जीवनपद्धति पर चलता है तो उसकी आयु सम्भवतः उसी के अधीन ही है। वैदिक वाङ्मय मनुष्य की आयु इस प्रकार निर्धारित करते हैं:-

शतवर्षीय आयु

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्।
जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।[2]

इस मन्त्र में कम से कम सौ वर्ष आयु प्राप्त करने की बात कही गई है। ऋग्वेद में कहा- सौवर्ष से पूर्व मृत्यु आवे तो उसके मार्ग में पर्वत खड़ा कर दें-

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तः मृत्युं दधता पर्वतेन।।[3]
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।[4]
तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।[5]

सौ वर्ष की इस आयु को दीर्घायु कहा गया है-

---

१. प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, भरतपुर. (राजस्थान)

२. यजु. ३६/२४

३. ऋ. १०/१८/०४

४. यजु. ४०/२

५. ऋ. ७/६६/१६

दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव शरदः शतम्।[६]

तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कर्षन् तवाभिरक्षतु।[७]

पत्नी पति की दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना करती है-

इयं नायुपब्रूते पूतान्यावपतिका।

दीर्घायुरस्तु मे पतिः जीवन्तु शरदः शतम्।।[८]

पुनः पत्नीमग्निरदायुषा सह वर्चसा।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।।[९]

शतवर्ष से अधिक आयु

वैदिक वाङ्मय में सौ वर्ष से अधिक आयु की कामना वाले मन्त्र भी देखने को हैं-

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम्।[१०]

अथर्ववेद में-

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।

त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम्।।[११]

सहस्रवर्ष की आयु

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे।

अपामर्ष्यं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः।[१२]

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।

त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुष्कृणोतु वाम्।।[१३]

---

६. काण्व सं. ३/ ७६

७. अथर्व ४/१०/७

८. अथर्व १४/२/६३

९. ऋ. १०/८५

१०. यजु. ३/३२

११. अथर्व १४/२८/७

१२. ऋ. १/१५८/६

एक सहस्र वर्ष की दीर्घ आयु इस दम्पती को मिले, त्वष्टा ने उन्हें एक-दूसरे के लिए बनाया है।

ब्राह्मण, उपनिषद् में आयु

भद्रं न आयुः शरदो असच्छतम्।[१४]

शतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति।[१५]

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहरिण्यमश्वान्।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।[१६]

एतद्ध, स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं म एतदुप तपसि योऽतमनेन न प्रेष्यामीति सह षोडशं वर्षशतमजीवत् प्राह षोडशं वर्षशतं जीवसि य एवं वेद।[१७]

आयुर्वेद में आयु

चरक-संहिता में मनुष्य की आयु को सौ वर्ष बताया है-

वर्षशतं खलु आयुषः प्रमाणमस्मिन् काले।।[१८]

सुश्रुत-संहिता में चिकित्सा स्थान में ३०० वर्ष, ५०० वर्ष तथा इससे भी अधिक आयु वृद्धि का कथन है। चरक संहिता में सहस्रायु तथा अमितायु प्राप्ति का उल्लेख निम्नप्रकार है-

न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा।।[१९]
वैखानसा बालखिल्यास्त चान्ये तपोधनाः।
रसायनमिदं प्राप्य बभूवुरमितायुषः।।[२०]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में मानव आयु सौ वर्ष से अधिक बताई है। अब उसके उपायों पर चर्चा

---

१३. अथर्व ६/७८/३

१४. काठक सं. ६२/१

१५. ऐत. आ २/२/१

१६. कठो. १/२/२३

१७. छा. ३/१६/७

१८. च.सं. शारीरस्थान ९.२९

१९. च.सं. शारीरस्थान ९/२९१९.च.सं. चिकित्सा १/७९

२०. च.सं. चिकित्सा १/७९

करते हैं। अथर्ववेद में कहा-

स्तुता मया वरदा वेद माता ....।

आयु प्राणं प्रजां पशुं ....॥[२१]

अर्थात् गायत्री जप से आयु की वृद्धि होती है। अतः प्रतिदिन गायत्री का चिन्तन करें। मनुस्मृति में मनु ने भी यही कहा है। ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र कहता है कि देवहित के लिये दीर्घ आयु को प्राप्त करें-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥[२२]

यह देवहित पूर्ण आयु कैसे प्राप्त हो सकती है। मैत्रायणी संहिता कहती है-

'यज्ञेनाऽस्यै आयुर्दधाति' सर्व एव एते अस्मै चिकित्सन्ति'।[२३]

अथर्ववेद कहता है कि यज्ञ हमें रोग, दुर्घटना एवं सद्यः प्राप्त जरावस्था, अकाल मृत्यु से बचाये और सौ वर्ष की आयु प्रदान करे।

कन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्।[२४]

हम सौ शरद् ऋतुओं, सौ वसन्त एवं हेमन्त ऋतुओं तक यज्ञों में रोगनाशक हवि प्रदान करते हुए दीर्घ जीवन की कामना करें। एवं इन्द्र आदि देव हमें पूर्ण आयु प्रदान करें-

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमान्ताञ्छतमु वसन्तान्।

शतं त इन्द्र अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥[२५]

इन वैदिक मन्त्रों एवं वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रन्थों के समुचित परिशीलन से ज्ञात होता है कि पञ्चमहायज्ञों को ही करते हुए मनुष्य पूर्ण आयु का निर्बाध उपभोग कर सकता है।

वैदिक ग्रन्थों में स्वर्ण और आयु का भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। सोने का धारण करना आयुवर्धक है-**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः।'**

श्रुति का अनुसरण करने वाली मनुस्मृति कहती है-**'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।'**[२६]

---

२१. अथर्व १९/६१/१

२२. ऋ० १/८९/८

२३. मैत्रा. २/३/५

२४. अथर्व ३/११/५

२५. अथर्व ३/११/४

ऋषियों ने लम्बे समय तक सन्ध्या अर्थात् ब्रह्मयज्ञ करके दीर्घ आयु का उपभोग किया।

ऋषि दयानन्द सत्यार्थ-प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं- **सन्ध्योपासन जिसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते है। पुनः समन्त्रक प्राणायाम, मनसापरिक्रमा, उपस्थान के पीछे परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करें। यह सन्ध्योपासना एकान्त देश में एकाग्रचित से करें।** मनु कहते हैं-

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमाश्रितः।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥[२७]

अर्थात् अरण्य एकान्त देश में जाकर सावधान हो के जल के समीप स्थित हो के नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्रीमंत्र का उच्चारण अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार चाल चलन करे, परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है।[२८] और भी-

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥[२९]

'स्तुता मया वरदा' इस अथर्ववेदीय मन्त्र ने गायत्री की महिमा कही। केवल मात्रा माला लेकर जाप करने से आयु वृद्धि नहीं होगी, अपितु अर्थज्ञान एवं आचरण से ही दीर्घायु प्राप्त होगी। महर्षि व्यास ने दो प्रकार के ब्रह्म बताये-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।

शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्मधिगच्छति॥

दो ब्रह्म हैं-शब्दब्रह्म वेद और परब्रह्म ईश्वर। जो शब्दब्रह्म को जानता है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। वेद का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। स्वाध्याय करना भी ब्रह्मयज्ञ है। जो व्यक्ति जितना स्वाध्याय करता है, उसका चिन्तन, मनन का क्षेत्र भी व्यापक होता जाता है। इससे आत्मिक शक्ति भी बढ़ती है। ऋषि दयानन्द कहते हैं कम- से कम एक घन्टा प्रातः एक घंटा सायं अवश्य सन्ध्योपासना करें। हम ऋषि दयानन्द के १९ मन्त्रों का उच्चारण करके पांच मिनट में इतिश्री कर लेते है। अघमर्षण, मनसा परिक्रमा एवं उपस्थान मन्त्र चिन्तन के लिए बहुत हैं। यदि स्वाध्याय यज्ञ किया जाए उसके पश्चात् तो परब्रह्म की प्राप्ति का रास्ता अवश्य खुलेगा। आत्मिक शक्ति एवं शान्ति प्राप्त होगी तो आयु वृद्धि भी अवश्य होगी एवं उसके उपभोग का भी

---

२६. मनु०४.९४

२७. मनु० २/१०४

२८. सत्यार्थ प्रकाश तृ.स.

२९. मनु० २/१०२

आनन्द मिलेगा। वेद का स्वाध्याय मनुष्य अवश्य करे। मनु कहते हैं-

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।।[३०]

और भी-

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।[३१]

पञ्चमहायज्ञों में दूसरा देवयज्ञ से भी दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है। इसके लिए कहा-**'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' यज्ञो मे आयुर्दधातु'** यज्ञ में प्रयुक्त औषधियुक्त हवन सामग्रियों से भौतिक रोगाणुओं का नाश, मानव को दीर्घायु तथा जलवायु शुद्ध होती है।

गीता कहती है-

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[३२]

प्राणी अन्न से, अन्न पर्जन्य से एवं पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होते है। अतः यज्ञ ही सम्पूर्ण क्रियाकलाव की उत्पत्ति स्थल है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है-**'अग्निर्वै देवानां मुखम्'**। अग्नि देवताओं का मुख है। मुख में ही आहुति डाली जाती है, मुख से ही अन्न डाला जाता है, जो कहीं और अन्न डालते हैं, खिलाते हैं, वे इसको अवश्य समझें।

अग्नि ही सभी ३३ प्रकार के सृष्टि को चलाने वाले देवों के पास आहुति पहुँचाती है। ३३ देवों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में अन्य देवों का उल्लेख नहीं है जो सृष्टि प्रक्रिया को चलाते है उसके अतिरिक्त एक देवाधिदेव महादेव ३४ वाँ ईश्वर ही है। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, और या ये ही ३३ देव है। इसके विषय में अथर्ववेद में कहा-

यस्य त्रयस्त्रिशंद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः।।[३३]

इस प्रकार अग्निहोत्र ही सृष्टि प्रक्रिया एवं शुद्ध जलवायु का कारक होने से दीर्घायु प्राप्ति में परम

---

३०. मनु. २/१६६

३१. मनु. २/१६८

३२. गीता ३/४

३३. अथर्व०१०.७.२७

सहायक है।

तृतीय एवं चतुर्थ पितृयज्ञ एवं अतिथि यज्ञ है। माता-पिता की सेवा एवं विद्वान् अतिथियों की सेवा से भी आयु वृद्धि होती है। मनु ने कहा भी है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।[३४]

पञ्चम महायज्ञ बलिवैश्वदेयज्ञ से भी आयु की वृद्धि होती है क्योंकि किसी भी सत्पात्र व्यक्ति को हम निःस्वार्थ रूप से दान देते हैं तो उसकी आवश्यकता की पूर्ति तो होती ही है हमारी भी मानसिक, आत्मिक एवं शारीरिक शान्ति वृद्धि होती है, जब तीनों प्रकारों की शान्ति उक्त यज्ञ द्वारा होगी तो आयुवृद्धि अवश्य होगी।

आयुवृद्धि एवं उपभोग के अन्य उपाय

१. अग्निरायुः, ब्रह्मयुः, यज्ञ आयुः, अमृतमायुः।[३५]

२. अन्नभुवा आयुः।[३६]

३. आयुर्घृतम्।[३७]

४. आयुर्वै हिरण्यम्।[३८]

५. प्राणो वा आयुः।[३९]

६. आयुर्वा एष यद्वायुः।[४०]

७. असावायुर्द्यौः।[४१]

८. आयुः संवत्सरः।[४२]

---

३४. मनु. २/१२

३५. मनु. २/१२१

३६. मैत्रा स. २/३/४

३७. शत. ९/२-३/३/१६

३८. काठक स. ११/८

३९. मैत्रा २/१/७

४०. ऐत ब्रा. २/३/ ८

४१. ऐत. आ २/४/३

४२. तैत्ति० स. ७/२-४/२ ३४.मैत्रा. स. ४/१/८

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के परिशीलन से ज्ञात होता है कि आयु भोगने के उपाय पञ्च महायज्ञ हैं, जिन्हें ऋषियों ने नित्यकर्म के रूप में परिगणित कर दिया है, जो भी व्यक्ति इन पञ्च महायज्ञों को मन, वचन कर्म से करेगा, वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करेगा। इसीलिए गीता संदेश देती है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥[४३]

---

४३. गीता ३/१०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०५२-५९)

नारी उत्थान के लिये महर्षि दयानन्द सरस्वती का योगदान

डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार[1]

नारी पद की सिद्धि 'नृनरयोर्वृद्धिः' ऐसा कहकर शार्ङ्गरवादि[2] गण में पठित होने से ङीन् के संयोग से हुई है।[3] स्त्री के ग्यारह नामों में नारी पद पठित है।[4] हलायुध कोषः में इनका विस्तार पच्चीस नामों के द्वारा किया गया है।[5] जो इनके गुण, कर्म तथा स्वभाव पर आधरित है। मृच्छकटिककार ने चारुदत्त के द्वारा नारी की परिभाषा धन से करते हुए कहा है-

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः।

अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान्।[6]

अर्थात्- अपने खराब भाग्य के कारण नष्ट धन वाला तथा स्त्री के धन से अनुगृहीत पुरुष धन (न होने) से स्त्री (के तुल्य) है और जो नारी है वह धन (हो जाने) से पुरुष (के समान) है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देश में प्रचलित अनेक मिथ्या धारणाओं, ईश्वर विषयक विविध मनघड़ंत मूर्तिपूजादि मान्यताओं, स्वर्ग-मोक्ष-वेद-श्राद्ध पितर- देवादि सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानादि शून्य चिन्तन धाराओं और मातृभूमि को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ने वाली मानसिकताओं को जहाँ समाप्त करने का बीड़ा उठाया, वहीं जिस नारी को **'ब्रह्मचर्येण कन्या'**[7] **'युवानं विन्दते पतिम्'**[8] कहकर वेद ने **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद'**[9] उच्चारण कर विद्वानों ने तथा

---

१. श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. अष्टा०४/१/७३

३. द्रष्टव्य-रामाश्रमी अमरकोष टीका।।

४. स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू। प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा। अमरकोषः २,६२

५. स्त्री, योषित्, अबला, योषा, सीमन्तिनी, वधूः, प्रतीपदर्शिनी, वामा, वनिता, महिला, प्रिया, रामा, जनिः, जनी, योषिता, जोषित्, जोषा, जोषिता, धनिका, महेलिका, महेला, शर्वरी, योषीत्, सिन्दूरतिलका, सुभ्रूः।। पृ० ३८८

६. मृच्छ० ३,२७

७. अथर्व. ११.५.१८

८. तुलना शतपथ ब्रा० १४,५,८,२

९. मनु ०३/५५-५७, ५९

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि:।।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया:।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा।।
तस्मादेता: सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनै:।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।[१०]

घोषित कर स्मृतिकार मनु महाराज ने आदर दिया था। अब **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयतामिति श्रुते:'** का काल्पनिक घोष सुनकर उसे पूर्ववत् श्रद्धास्पद पूजनीय स्थान पर बैठाने का भरसक प्रयास किया। इसके लिये उन्होंने न केवल व्याख्यानों, भाषणों या प्रवचनों द्वारा ही अपितु स्वलिखित छोटे बड़े ग्रन्थों के माध्यम से तथा तत्तत्स्थलों पर वेद एवं ऋषि-महर्षियों के प्रमाण देकर और स्वयंकृत् वेदभाष्य के अन्तर्गत नारी-विषयक सम्मान को उपस्थापित किया। महर्षि ने देखा कि नारी को दीन और हीन बनाने में कतिपय मुख्य कारण हैं, उनमें बाल विवाह, अस्वयंवर विवाह, अनमेल-विवाह, शिक्षा की कमी आत्मबल की स्वलप्ता आदि मुख्य हैं। अत: उन्होंने स्वग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र नारी को इन मुख्य बिन्दुओं की ओर झकझोरने का भरसक प्रयास किया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देश में नारी विषयक प्रथम भ्रान्त धारणा को अति निकटता से देखा कि छोटी अवस्था अथवा गर्भावस्था में भी विवाह हो रहे हैं और यदि किन्हीं कारणों वश वह तथाकथित पति मर जाता है तो उस अबोध बालिका को समाज विधवा घोषित कर देता है तथा उसे मृत्युपर्यन्त विधवा के रूप में दिन गुजारने पड़ते हैं, वह किसी मठ मन्दिर में मात्र दासी बनकर रह जाती है या उसका प्रवेश किसी भी मांगलिक कार्यक्रम में अशुभ माना जाता है। महर्षि ने यह दृश्य देख प्रवचन दिया- प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे, बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था। यदि इस समय हम लोगों में बाल विवाह प्रचलित नहीं होता तो विधवाओं की संख्या कभी इतनी न होती और न इतने गर्भपात और भ्रूण हत्याएं होतीं और न इतनी रोगों की अधिकता होती। विवाह में परस्पर स्त्री पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन-चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं। आजकल लड़के लड़कियों के

१०. पूना प्रवचन बारहवां, उपदेश

शीघ्र विवाह करने की बुरी रस्म पड़ गयी है। काशीनाथ ने शीघ्रबोध नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है, उसमें ऐसा कहा है कि-

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।

दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥

माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्याँ रजस्वलाम्।

लड़की गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वला होती है, ऐसी बहुत कुछ बकवास की है। इसको बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए होंगे।[११] मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी समय नाता कर देते हैं, जबकि वे दोनों गर्भ में ही होते हैं। यह कैसी फजीहती की बात है। विवाह के समय पर धर्म, अर्थ और काम के परस्पर निर्वाह के लिये निर्णय होता है। वह निर्णय बिना पुत्र और पुत्री वर्तमान कैसे हो सकता है?[१२]

महर्षि ने इसी प्रकार के विविध विचार सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में, संस्कार-विधि के विवाह-प्रकरणान्तर्गत तथा स्ववेदभाष्यों के भावार्थों में भूरिशः दर्शाये हैं। उन्होंने न केवल बाल-विवाह को रोकने का डिण्डिमघोष किया, अपितु विवाह की आयु और समय का निर्धारण भी निश्चित किया। यथा

प्रश्न- विवाह का समय और प्रकार कौन सा अच्छा है?

उत्तर- सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस वर्ष की स्त्री तथा तीस, पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है।[१३]

ये उपर्युक्त विचार महर्षि ने महर्षि धन्वतरि प्रोक्त सुश्रुत के अनुसार ही दिये हैं जहां लिखा है-

---

११. पूजा प्रवचन तीसरा उपदेश

१२. पूजा प्रवचन एकादश उपदेश

१३. सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्थसमुल्लास।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायाँ गर्भाधानं न करायेत्॥[१४]

अर्थात् सोलह वर्ष से न्यून आयु वाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अर्थात्- पूर्णकाल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता है॥ और यदि उत्पन्न हो भी जाये तो चिरकाल तक नहीं जीता और यदि जीवित भी रह जाये तो दुर्बलेन्द्रिय होता है। इस कारण से अतिबाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भाधान न करें॥

महर्षि ने उत्तम आयु में विवाह करने का लाभ और अधम आयु में हानि बताते हुए लिखा जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विद्या के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है। सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से संतान उत्तम होते हैं।[१५]

इस प्रकार के विचार महर्षि ने उपदेश-मंजरी तथा स्वग्रन्थों में अनेकत्र सप्रमाण रखें हैं। वस्तुतः महर्षि देख चुके थे कि नारी के अधःपतन का प्रमुख और प्रथम कारण बाल-विवाह तथा असामयिक विवाह है। इसलिए उन्होंने इस विषय को पुनरावृत्ति के साथ अनेक स्थलों पर उठाया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने नारी की दुःखद स्थिति का द्वितीय कारण अस्वयंवर विवाह समझा। योग्य-अयोग्य की सर्वथा समुचित परीक्षा किये बिना वर और कन्या को पूर्णतः अनजान रखकर, गुण-कर्म-स्वभाव से एकदम अपरिचित अवस्था में माता-पिता अथवा सगे-सम्बन्धी लोग विवाह की एक परिपाटी को निभाकर जब परिणय कर देते हैं, तब इस परिस्थिति में अत्यधिक विवाह अनमेल सिद्ध होते दिखायी देते हैं। इस दुःखकारी परिणय के परिणाम को अवलोकन कर महर्षि ने स्वयंवर प्रथा को महत्त्व दिया और लिखा-

प्रश्न- विवाह माता-पिता के आधीन होना चाहिए या लड़का-लड़की के आधीन रहे?

उत्तर- लड़का-लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना नहीं होना चाहिए। क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में

---

१४. सुश्रुत, शारीरस्थान १०/५७-५८॥

१५. सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्थसमुल्लास॥

विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है। माता-पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं का सुख और विरोध में उन्हीं का दु:ख होता और-

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।[१६]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहाँ विरोध, कलह होता है, वहाँ दु:ख, दरिद्र और निन्दा निवास करती है। इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता तब कि विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता.....

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि मुनि राजा महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे। तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमश: आर्यावर्त्त देश की हानि होती चली आयी है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।[१७]

महर्षि ने असमान गुणकर्म से रहित विवाह का भरपूर विरोध किया और सप्रमाण बोले-स्वयंवर के विषय में मनु का कथन है कि-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्।।[१८]

इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो। यथा-

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु तु गुणहीनाय कर्हिचित्।।[१९]

---

१६. मनु० ३/६०

१७. सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्थसमुल्लास।।

१८. मनु० ९.९०

१९. उपदेश मंजरी तीसरा उपदेश।। (मनु०९,८९)

प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे। बाल विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था, क्योंकि आर्य इतिहासों में प्रायः स्वयंवर का ही वर्णन आता है।[२०]

(स्वयंवर शब्द से महर्षि का अभिप्राय समान गुण-कर्म-स्वभाव से तो है ही, साथ में जहाँ उन्होंने विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीरादि का परिमाण यथायोग्य माना है, वहीं विस्तृत व्याख्यान करते हुए लिखते हैं- ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए। तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगा[२१]

महर्षि की दृष्टि में स्वयंवर का विशेषार्थ तब प्रकट होता है, जब वे लिख रहे थे- जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात्- जब एक वर्ष वा छह महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहे, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको फोटोग्राफ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस-जिस का रूप मिल जाये। उस-उस के इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो उसको अध्यापक लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों, तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना।......

जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहे तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों तब उन अध्यापिका वा कन्या के माता-पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें[२२] जब विवाह करने का समय निश्चित हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावें।[२३]

महर्षि स्वयंवर विधि को विवाह के लिये उत्तम मानते हैं तथा इसमें क्या-क्या सावधानियाँ बरती जानी चाहियें, इसका स्पष्टतः उल्लेख करते हैं, साथ ही स्वयंवर विवाह से होने वाले लाभों का वर्णन भी दर्शाते हैं। ऋग्वेदभाष्य में उन्होंने लिखा-

'जो वधू और वर स्वयंवर विवाह से परस्पर प्रसन्न होकर विवाह करते हैं, वे सूर्य और उषा के समान

---

२०. उपदेश मंजरी द्वादश उपदेश।।

२१. सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्थ समुल्लास।।

२२. सत्यार्थ-प्रकाश चतुर्थ समुल्लास।।

२३. संस्कारविधि विवाह-प्रकरण।।

गृहाश्रम को उत्तम आचार से अच्छे प्रकार प्रकाशित कर सर्वदा आनन्दित होते हैं।'[२४]

महर्षि ने अनमेल विवाह न हो, इसके लिये समान गुण, कर्म, स्वभाव, शील, कुल, शरीर, उचित आयु, शिक्षा आदि का स्थान-स्थान पर सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास तथा उपदेश-मंजरी में उल्लेख किया है। गृहस्थ रूपी गाड़ी की गति तभी शोभायमान होती है, जब उसमें स्थित पहियों की स्थिति समतुल्य हो। इसलिये महर्षि मनु को उद्धृत करते हुए महर्षि बोले....

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ [२५]

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।[२६]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देखा कि नारियों में शिक्षा की स्थिति न के बराबर है, उन्हें मात्र धार्मिक शिक्षा ही थोड़ी बहुत घर पर दी जाती थी। नारी-शिक्षा विषय हेतु महर्षि ने एक विशाल बीड़ा उठा लिया, उनके ग्रन्थों से प्रतीत होता है, जैसे महर्षि नारी-शिक्षा के प्रसार के लिये तूफान बनकर चल पड़े हों। प्रवचन करते हुए वे शेर की तरह दहाड़ते हुए गरजे अध्ययन-अध्ययन अर्थात् लड़कों को पढ़ाना, वैसे ही लड़कियों को पढ़ाना यह है।.....पूर्वकाल में आर्य लोगों में स्त्रियाँ उत्कृष्ट रीति से पढ़ती थीं। आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो स्त्रियाँ आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर रहती थीं। और साधरण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे। यह सबको विदित ही है।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि बड़ी-बड़ी सुशिक्षित स्त्रियाँ होकर बड़े-बड़े ऋषि मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं। सुशिक्षित स्त्रियाँ कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती हैं। संगति का बल कितना बढ़कर है, इसका विचार करो। विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग पड़े तो उसका परिणाम कैसे लगे ?[२७]

स्त्रियों को भी विद्यासम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे। ------------ स्त्रियों को विद्यासम्पादन करने के विषय में उत्साह बढ़ता रहा था।[२८]

---

२४. ऋ.भा० ६,६४,६।।

२५. मनु०९,८९

२६. सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास।।

२७. उपदेशमंजरी तृतीय उपदेश।।

२८. उपदेशमंजरी षष्ठ उपदेश।।

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि कैसी-कैसी विदुषी स्त्रियाँ हो गयी हैं। आजकल स्त्री को विद्या पढ़ने का अधिकार नहीं, वह शूद्र के समान है। यदि स्त्रियाँ पढ़ी लिखी होतीं तो इन पण्डितों की बड़बड़ाहट का खण्डन करके एक घड़ी में इनका मुंह बंद कर देती।[२९]

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआं में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, यह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।[३०]

महर्षि ने अपने ग्रन्थों में नारीशिक्षा विषयक सैकड़ों वचनों की झड़ी सी लगा दी है। उन्होंने ने केवल नारी को विदुषी, अध्यापिका तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु युद्धक्षेत्र में जाकर युद्धविद्या का कौशल दिखाने, राज्य के विभिन्न विभागों में आसीन होने, राजकाज करने और न्यायालयों में बैठकर न्याय देने इत्यादि अनेकों क्षेत्रों में उस अबला नामधारिणी नारी के लिये सबला बनाने के मार्गों को प्रशस्त किया। जिससे नारी का आत्मबल निखरकर सामने आया। महर्षि के वचनों का जनता और प्रशासन पर यह प्रभाव पड़ा कि बाल-विवाह, अस्वंयवर विवाह, अनमेल-विवाह रुकने लगे, जिससे देश में बाल-विधवाओं की संख्या का अनुपात बहुत कम हो गया। पुत्री पाठशाला की स्थापना होनी शुरू हुई। जिससे नारियों को शिक्षा का ज्ञान, हित अनहित की पहचान होने लगी। उनका आत्मबल जाग गया, जिस कारण उन्होंने अपने अधिकारों की भरपूर मांग प्रारम्भ कर दी और एक नये समाज की स्थापना महर्षि के स्वप्नों के रूप में विशाल भवन के समान साकार खड़ी होती हुई दिखायी दे रही है। नारी जाति पर महर्षि दयानन्द का वह उपकार है, जो कभी उतारा नहीं जा सकता। आज प्रत्येक क्षेत्र में नारी की स्थिति उत्तम, उत्तमोत्तम और सर्वोत्तम बनती जा रही है। वस्तुतः आज नारी की उन्नति के जितने द्वार निर्मित हुए हैं, जिनमें प्रवेश कर नारी सम्मान पा रही है, उसकी आधार शिला रखने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं।

---

२९. उपदेशमंजरी द्वादश उपदेश।।

३०. सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीय समु०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०६०-६९)

वैदिक परम्परा के संरक्षण में स्मृति-साहित्य का योगदान

ऋतु शुक्ला[1]

विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ तथा अक्षय ज्ञानराशि वेद अर्थात् श्रुति भारतीय संस्कृति एवं साधना के मूल हैं। वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका निर्माण प्रज्ञा द्वारा नहीं, अपितु जो ऋषियों को समाधि अवस्था में दर्शन हुआ है। अत: वेद में ईश्वरीय ज्ञान ऋषियों के माध्यम से प्रतिफलित है। वेद शब्द के अन्तर्गत ऋग्वेदादि चार संहिताओं का परिगणन किया जाता है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग साहित्य इन सभी का आधार और उपजीव्य वेद ही है। अत: ये सब वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, सदाचार, धर्म, दर्शन, राजनीति, सामाजिक व्यवस्था, ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित सभी विषयों पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है। अत: मनुष्य, संसार तथा ईश्वर विषयक सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत होने के कारण वेदों का अत्यधिक महत्त्व है।

प्राचीनकाल में वैदिक ज्ञान का संरक्षण मौखिक परम्परा द्वारा होता था, परन्तु मानव की मेधाशक्ति के ह्रास आरम्भ होने से इस श्रुतिगोचर ज्ञान को श्रवण मात्र से सुरक्षित रखना असम्भव होने लगा। भाषा तथा भाव की दृष्टि से दुरावगाही वेद परिष्कृत प्रज्ञा के अभाव में मानवों द्वारा अग्राह्य भी हो गया। तभी से स्मृति साहित्य का विकास हुआ। स्मृति शब्दका प्रयोग वेदानुगामी परन्तु वेदेतर साहित्य के लिए होता है। श्रुतियों का आचार-व्यवहार से सम्बन्धित वह ज्ञान जिसे ऋषियों ने स्मरण के आधार पर लिखित रूप में संकलित करके प्रजा के कल्याणार्थ दिया, उसे स्मृति संज्ञा से अभिहित किया गया है। अत: स्मृतियाँ वैदिक ज्ञान का लिपिबद्ध रूप हैं, जिनके अर्थ वेदकृत हैं, शब्द मात्र ऋषिकृत हैं। बौधायन धर्मसूत्र के भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने भी स्मृति को परम्परागत अनुभव से उपलब्ध ज्ञान कहा है।[2]

श्रुतियों के अत्यन्त अस्पष्ट तथा सूक्ष्म तत्त्वों का स्पष्टीकरण स्मृतियों ने किया है, अत: स्मृतियाँ श्रुतियों का विशदीकरण हैं। अत: स्मृति साहित्य के सूक्ष्म विश्लेषण से यह उद्घाटित होता है कि वैदिक परम्परा के धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि सभी तत्त्वों का संरक्षण स्मृतियों द्वारा किया गया है।

भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व धर्म सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा है तथा धर्म पर ही सम्पूर्ण संसार टिका

---

१. प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, पलही पट्टी, वाराणसी

२. अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः। तदभिव्यञ्जको ग्रन्थः स्मृतिशब्देनोपचर्यते। गोविन्दस्वामी बौ० १/१/३ की व्याख्या

हुआ है।[३] जगत् के इस प्राणस्वरूप आधारभूत तत्त्व का मूल वेद हैं।[४]

वेदों के अतिरिक्त स्मृतियों को धर्म की प्रधान वाहिका माना गया है, क्योंकि स्मृतियों ने वेदों में प्रतिपादित धर्म को ही प्रसारित किया है।[५] मनुस्मृति ने चारों वेद, वेदज्ञों की स्मृति, शील तथा महात्माओं के आचरण को धर्म का मूल माना है।[६] याज्ञवल्क्यस्मृति में भी समान मन्तव्य व्यक्त हुआ है।[७]

सृष्टि उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त,[८] नासदीय सूक्त[९] तथा पुरुष सूक्त[१०] में मिलते हैं। हिरण्यगर्भ सूक्त हिरण्यगर्भ परमात्मा से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। वही आत्मा का आविर्भाव करने वाला तथा मृत्युदाता है।[११] मनु ने भी सुवर्ण के शुद्ध अण्डे से सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति को स्वीकारा है।[१२] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[१३] तथा वाजसनेयि संहिता के **'ततो विराडजायत'**[१४] का भी अनुकरण मनुस्मृति करती है, जिसमें विराट् संज्ञक पुरुष की सृष्टि बताई है।[१५] मनुस्मृति में वर्णित आत्मा के नित्य, सत् एवं असत् स्वरूप[१६] कठोपनिषद[१७] छान्दोग्योपनिषद्[१८] एवं गीता[१९] में वर्णित आत्मस्वरूप का अनुकरण है। याज्ञवल्क्य ने भी आत्मा

---

३. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति- महानारायणोपनिषद् २९/१

४. गौतम धर्मसूत्र १/१/२ वेदो धर्ममूलम्।

५. वसिष्ठ धर्मसूत्र १/४/६ श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः।

६. मनुस्मृति २.६ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

७. याज्ञवल्क्यस्मृति १/१/७श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

८. ऋ० १०.१२१

९. ऋ० १०.१२९

१०. ऋ० १०.९०

११. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। ऋग् १०/१२/१

१२. मनुस्मृति १/९ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।।

१३. ऋग्वेद १०/९०/५ तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।

१४. वाज सं० ३१/५

१५. मनुस्मृति १/३२ द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।।

१६. मनु १/११ यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः सः पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते।

१७. कठोपनिषद् १/२/१८ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

के अविनाशी, अजन्मा तथा नित्य स्वरूप को माना है।[२०] कठोपनिषद् में ऊँकार को परब्रह्म एवं श्रेष्ठ कहा है। मनुस्मृति भी ऊँ को ब्रह्म प्राप्ति का साधक होने से श्रेष्ठ मानती है।[२१] मनुस्मृति में वर्णित परब्रह्म से प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभतों की उत्पत्ति[२२] मुण्डकोपनिषद्[२३] का अक्षरश: अनुकरण है। धर्म के विषय में स्मृतियों में सर्वत्र वेदों को धर्म का मूल स्वीकार किया गया है।[२४] मनु ने अपनी स्मृति में वेदों में उक्त धर्म को ही कहा है।[२५]

संस्कारों के विषय में यदि चिन्तन करें तो इनका स्पष्ट उल्लेख वेदों में प्रात: नहीं होता तथापि मौज्जी, मेखला इत्यादि शब्दों का प्रयोग उपनयन संस्कार का तथा ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात् पत्नी को प्राप्त करने की योग्यता विवाह संस्कार की ओर संकेत करते हैं।[२६] कल्प वेदाङ्ग के धर्मसूत्रों में इनका स्पष्ट स्वरूप एवं लक्षण प्राप्त होता है।[२७] मनुस्मृति भी विभिन्न संस्कारों को वेदानुसार करने का निर्देश देती है।[२८] याज्ञवल्क्यस्मृति[२९], नारदस्मृति[३०] तथा पराशरस्मृति भी संस्कारों को वेदानुरूप ही स्वीकार करती हैं। हारीत[३१] तथा यम[३२] ने तो स्त्रियों के क्रमश: समावर्तन एवं उपनयन संस्कार की भी बात कही है।

---

१८. छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।

१९. याज्ञ० स्मृ० ३/४/६९ निमित्तमक्षर: कर्त्ता..........इति कीर्त्यते।।

२०. कठो० १/२/१६, एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म..........यो यदिच्छति तस्य तत्।

२१. मनुस्मृति २/८३ एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामा: परं तप:। सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते।

२२. मनुस्मृति १/१४

२३. मुण्डकोपनिषद् २/१ एतस्माज्जायते प्राणो.......विश्वस्य धारिणी।

२४. मनुस्मृति २/६ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

२५. मनु २/७, य: कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित:। स: सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स:।।

२६. ऋग्वेद १०/१०९/५, ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष: स देवानां भवत्येकमङ्गम्। तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पति: सोमेन नीतां जुह्वां न देवा:।।

२७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/१/९ उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितस्संस्कार:।

२८. (क) मनुस्मृति २.३५ – चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मत:। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।।
(ख)मनुस्मृति २.३६ – गर्भाष्टमेऽब्दे .... द्वादशे विश:।

२९. याज्ञवल्क्यस्मृति १.२.१०, १.२.११ तथा १५

३०. नारद स्मृति – ४. अभ्युप्रेत्याशुश्रूषा १५,४ स्त्रीपुंसयोग: २

३१. वीर मित्रोदय भाग I व II संस्कारप्रकाश, पृ० ४०४– प्राग्रजस: समावर्तनम् इति हारीतोक्त्या।

३२. वीर मित्रोदय भाग I व II संस्कार प्रकाश, पृ० ४०२–४०३, पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धमिष्यते।

वेदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों तथा अग्निसूक्त,[३३] पुरुष सूक्त,[३४], वाक् सूक्त[३५] इत्यादि में यज्ञ की चर्चा हुई है तथा उसका महत्त्व प्रतिपादित है। यजुर्वेद में यज्ञ को सृष्टिचक्र का केन्द्र[३६] मानते हुए उसके द्वारा वायु तथा जल की शुद्धि तथा उसके फलस्वरूप जलवृष्टि[३७] यज्ञ की वैज्ञानिकता की पुष्टि करती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है-**'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः'**।[३८] मनु भी कहते हैं कि यज्ञ में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न से तथा अन्न से प्रजाएँ होती हैं।[३९] मनुस्मृति में नक्षत्रयाग, आग्रहायण इत्यादि यागों को श्रौतस्मार्त विधि से करने पर बल दिया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति भी इस दृष्टि से मनुस्मृति की अनुवर्ती है।[४०] धर्मसूत्रों में नित्य जीवन में हो रहे महापातकों की निवृत्ति हेतु पञ्चमहायज्ञों[४१] का विधान है, जिसका संरक्षण मनु[४२] तथा याज्ञवल्क्य[४३] द्वारा अपनी स्मृतियों में भलीभाँति किया गया है।

वेदों की सामाजिक व्यवस्था को भी धर्मशास्त्रों ने पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया है। ऋग्वेद में वर्णव्यवस्था का उल्लेख पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत॥[४४]

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में चारों वर्णों का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने **'चार्तुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'**[४५] कहकर वर्णव्यवस्था की रचना स्वीकार की है।

---

३३. ऋग्वेद १.१.१ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

३४. ऋग्वेद १०.९०.६ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।

३५. ऋग्वेद १०.१२५.३ अहं राष्ट्री .... प्रथमं यज्ञियानाम्।

३६. यजुवेद २३.६२ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

३७. यजुर्वेद २२.२२ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो.....नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो.....नः कल्पताम्।

३८. गीता ३/१४

३९. मनुस्मृति ३.७६ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

४०. याज्ञवल्क्यस्मृति १.५.९७ तथा ९९ऋ ३.४.७१।

४१. बौधायन धर्मसूत्र २/११/१ -अथेमे पञ्चमहायज्ञा.....ब्रह्मयज्ञ इति।

४२. मुनस्मृति ३.६९।

४३. याज्ञवल्क्यस्मृति १.५.१०२ - बलिकर्म.....महामखाः।।

४४. ऋ० १०/९०/१२

४५. श्रीमद्भगवद्गीता ४.१३।

श्रुतिसम्मत इस व्यवस्था को सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्वीकृति दी है। मनु ने वेदानुकरण करते हुए लोकवृद्धि हेतु चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अवयवों से मानी है।[४६] याज्ञवल्क्यस्मृति भी वर्णव्यवस्था को स्वीकृति देती है।[४७] नारदस्मृति[४८] तथा पराशरस्मृति[४९] में चारों वर्णों के कर्म प्रतिपादित हैं।

इसी प्रकार यदि आश्रम व्यवस्था पर विमर्श करें तो दृष्टिगत होता है कि यद्यपि वेदों में आश्रमों के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, तथापि ब्रह्मचारी[५०] तथा गृहपति[५१] जैसे शब्द मिलते हैं। पाणिग्रहण से सम्बन्धित मन्त्र[५२] तथा सोम सूर्या के विवाह वर्णन में गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्य उपदिष्ट हैं।[५३] अथर्ववेद में ब्रह्मचर्याश्रम से सम्बन्धित मेखलादि का स्पष्टोल्लेख है।[५४] ऋग्वेद में मुनि शब्द की आवृत्ति हुई है[५५] तथा इन्द्र को मुनियों का सखा कहा गया है।[५६] ब्राह्मणग्रन्थों[५७] तथा उपनिषदों तक चारों आश्रम स्पष्टरूपेण अस्तित्व में आ चुके थे। वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए मनु ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा यति (संन्यास) चार आश्रम माने हैं।[५८] मनुस्मृति के अन्तिम अध्याय में कहा गया है कि चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम तथा भूत, भविष्य और वर्तमान यह सब वेद से ही प्रसिद्ध है।[५९] याज्ञवल्क्यस्मृति[६०] तथा नारदस्मृति[६१] ने चारों आश्रम स्वीकार किये हैं।

---

४६. मनुस्मृति १.३१, लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत।।

४७. याज्ञवल्क्यस्मृति १.२.१० ब्रह्मक्षत्रियविटशूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।

४८. नारदस्मृति ४.५१-५४।

४९. पराशर स्मृति १.३७।

५०. ऋग्वेद १०.१०.९.५ - ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः.....।

५१. ऋग्वेद १०.८५.२६-२७ - गृहान् गच्छ गृहपत्नी.........जागृहि।।

५२. ऋग्वेद १०.८५.३६ - गृभ्णामि ते सौभगत्वाय.....त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।

५३. ऋग्वेद १०.८५

५४. अथर्ववेद ११.५.४ ब्रह्मचारी समिधा मेखलाश्रमेण..........। ११.५.९ इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी.......।

५५. ऋग्वेद १०.१३६.१,१,२,५

५६. ऋग्वेद ८.१७.१४ - इन्द्रो मुनीनां सखा।

५७. ऐतरेय ब्राह्मण - ७.१३.५ किं नु मलं किमजिनं.......श्वदावदः।

५८. मनुस्मृति ६.८७, ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः।।

५९. मनुस्मृति १२.९७ चातुर्वर्ण्यं त्रयो............सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

६०. याज्ञवल्क्यस्मृति १.२.३२ १.३.५२

६१. नारदस्मृति १.१२

दक्षस्मृति[६२] में कथन है कि दक्ष प्रजापति ने चारों आश्रमों हेतु धर्मशास्त्र लिखा है। पराशर स्मृति में आश्रमों का अस्तित्व दिखाई पड़ता है।[६३]

स्त्रियों की स्थिति के विषय में स्मृतियाँ वेदों का सम्यक् अनुसरण करती हैं। वेदों में नारी का जगज्जननी के रूप में प्रतिष्ठा थी। बृहदारण्यकोपनिषद्[६४] में नारी को सृष्टि की रिक्तता को पूर्ण करने वाली कहा गया है। ऋग्वेद[६५] में स्त्रियाँ हि **'ब्रह्मा बभूविथ'** कहा है। शतपथ-ब्राह्मण में पत्नी को श्री माना है।[६६]

वेदों के अनुकूल ही मनु भी नारियों को श्री संज्ञा से विभूषित करते हैं।[६७] मनुस्मृति में **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते'**[६८] जैसा उदात्त दृष्टिकोण नारी सम्मान का सूचक है। याज्ञवल्क्य[६९] भी नारियों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं। यद्यपि स्मृतियों में वैदिककालीन नारी जैसे सशक्त स्वरूप में कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है, तथापि वह काल एवं आवश्यकता के अनुसार स्वच्छन्द स्त्रियों हेतु किया गया परिवर्तन है।

वेदों में स्पष्ट रूप से नहीं, परन्तु वेदाङ्ग साहित्य में विवाह के आठ प्रकार मुखरित हुए हैं। धर्मसूत्रों के अनुसार -ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच - ये आठ प्रकार के विवाह हैं।[७०] इन आठ प्रकारों का अक्षरशः उल्लेख मनुस्मृति[७१], याज्ञवल्क्यस्मृति[७२] तथा नारदस्मृति[७३] में मिलता है।[७४] व्यासस्मृति भी पति-पत्नी के संयोग अर्थात् विवाह में ही पूर्णता स्वीकार करती है।

भारतीय संस्कृति में पितृ ऋण के उद्देश्य की पूर्ति हेतु सन्तानोत्पत्ति का विशेष महत्त्व है। अत एव निःसन्तान विधवा तथा गर्भाधान में असमर्थ पति की स्त्री के लिए नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के संकेत ऋग्वेद संहिता

---

६२. दक्षस्मृति १/३

६३. पराशरस्मृति १.५१, २.१

६४. बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.३

६५. सोती वीरेन्द्र चन्द्र - भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृ० ८३

६६. शतपथ-ब्राह्मण - १३/२/६/७

६७. मनुस्मृति ९.२६ प्रजनार्थे महाभागाः.....स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।

६८. मनुस्मृति ३.५६

६९. याज्ञ० स्मृति १.३.८३

७०. गौतम धर्मसूत्र १/४/४-११; बौधा० ध०सू० १/२०/१-९, विष्णु धर्मसूत्र अध्याय २४

७१. मनु० ३.२१

७२. याज्ञ० स्मृति १.३.५८,५९,६१

७३. व्यास स्मृति -४, बीजिक्षेत्रिणोऽपत्यस्वाम्यविचारः - २९

७४. व्यास स्मृति - २/४, शेखर राय, पराशरस्मृतिः पृ० ३० से उद्धृत

में प्राप्त होते हैं।[७५] गौतम[७६] तथा बौधायन धर्मसूत्र[७७] भी इसे धर्मसम्मत मानते हैं। मनुस्मृति में नियोग द्वारा एक पुत्र को उत्पन्न करने की अनुमति दी गयी है।[७८] याज्ञवल्क्यस्मृति[७९] नियोगप्रथा को स्वीकृति देती है। पराशर[८०] ने नियोग को नहीं, परन्तु विशेष परिस्थितियों में पुनर्विवाह को मान्यता अवश्य दी है।

स्मृति साहित्य में वेदों की आध्यात्मिकता का सम्यक् निर्वहन हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थचतुष्ट्य को मानवजीवन का लक्ष्य माना गया है। उपनिषद् गीता तथा धर्मसूत्रों[८१] में भी चारों पुरुषार्थों पर विमर्श किया गया है। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति[८२] भी चारों पुरुषार्थों का विवेचन करती हैं।

जहाँ ऋग्वेद[८३] मृत्यु के पश्चात पुर्नजन्म की बात कहता है, तो वहीं धर्मसूत्रों[८४] ने पुर्नजन्म की अवधारणा को कर्म सिद्धान्त के साथ संयुक्त किया है। याज्ञवल्क्य[८५] भी कर्मानुसार मनुष्य द्वारा योनि की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं।

पाप एवं प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में वेदों में कुछ दृष्टिपथ पर नहीं पड़ता है, परन्तु धर्मसूत्रों में इस भी पर्याप्त चिन्तन हुआ है। गौतम[८६] तथा बौधायन[८७] धर्मसूत्र ने कुत्सित कर्म यथा यज्ञ न करना, अभक्ष्य का भक्षण, निषिद्ध कर्मों का सेवन इत्यादि को पाप की संज्ञा दी है। इन पातकों के फल से मुक्ति हेतु विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान गौतम बौधायन तथा वसिष्ठ[८८] एवं आपस्तम्ब[८९] सहित प्राय: सभी धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रों ने

---

७५. ऋ० १.१६७.५.६ (क) जोषद्यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः। आ सूर्येव विधतो रथं गात्त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या। (ख)आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्।

७६. गौतम धर्मसूत्र २/९/४-६

७७. बौ०ध०सू० २/३/१७

७८. मनुस्मृति ९.६० - विधवायां नियुक्तस्तु...न द्वितीयं कथञ्चन।

७९. याज्ञ० स्मृति १.३.६७-६९

८०. पराशर स्मृति ४/३०

८१. (क) गौतम धर्मसूत्र १/९/४६ (ख) डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय- आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, पृ० ७६

८२. याज्ञ० स्मृति १.५.११५

८३. ऋग्वेद १०.५९.६ - असुनीते पुनरस्मासु........मृळया नः स्वस्ति।

८४. गौतम धर्मसूत्र २/२/२९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/२/३

८५. याज्ञ० स्मृति ३.४.१३१

८६. गौतम धर्मसूत्र ३/१/२ -, अथ खल्वयं पुरुषो योऽप्येनं कर्मणा लिप्यते...प्रतिषिद्धसेवनमिति।

८७. बौधायन धर्मसूत्र ३/१०/२-३

८८. गौतम ३/१/७-१०ऋ बौधायन ३/१०/७-९, वसिष्ठ २२/५-७

इन विधानों को अपने साहित्य में शब्दतः अङ्गीकार किया है। मनुस्मृति का बारहवां अध्याय तथा याज्ञवल्क्यस्मृति का सम्पूर्ण तृतीय खण्ड विभिन्न पातकों तथा उनकी निवृत्ति हेतु प्रायश्चित्त विधानों से ओत-प्रोत है। पराशरस्मृति[९०] में कतिपय प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है।

वेद, वेदाङ्गों की राजनैतिक व्यवस्था का यदि विश्लेषण करें तो देखते हैं कि वेदों में राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजारक्षण तथा न्याय करना था। राज्यसंचालन हेतु विभिन्न अधिकारियों में पुरोहित का महत्त्व अधिक था। धर्मसूत्रानुसार राजा शास्त्रानुकूल आचरण करने वाला तथा सत्य एवं निष्पक्ष वचन बोलने वाला होना चाहिए।[९१] गौतम[९२] तथा वसिष्ठ[९३] ने यत्नपूर्वक प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य बताया है। गौतम धर्मसूत्र में शुभलक्षणों से युक्त ब्राह्मण को पुरोहित बनाने का निर्देश दिया गया है।[९४] वसिष्ठ ने देश, धर्म, जाति और कुल के धर्म की रक्षा हेतु दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्तव्य बताया है।[९५] विष्णु धर्मसूत्र ने भी इसका समर्थन किया है।[९६] करग्रहण[९७] इत्यादि से सम्बन्धित नियमों पर भी धर्मसूत्रों ने प्रकाश डाला है। इस सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था अर्थात् राजा का कर्तव्य, प्रशासनिक अधिकारी, दण्डविधान, करग्रहण इत्यादि के नियम मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में वेदानुसार ही प्रतिपादित हैं। मनुस्मृति का सप्तम अध्याय राजधर्म से सम्बन्धित है। याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में राजधर्म प्रकरण राजा के कर्तव्य इत्यादि से तथा व्यवहाराध्याय का सीमाविवाद प्रकरण तथा दण्डपारुष्य प्रकरण, साहसप्रकरण दण्डविधान से सम्बन्धित हैं। नारदस्मृति के प्रथम अध्याय में राजा के न्यायपूर्ण शासन करने के संकेत प्राप्त होते हैं।[९८] नारदस्मृति के चतुर्थ अध्याय का साहस-प्रकरण तथा दण्डपारुष्य-प्रकरण दण्डविधान से सम्बन्धित हैं।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में अध्ययन करने पर कृषि, पशुपालन तथा शिल्प इत्यादि उद्योगों का संकेत

---

८९. आपस्तम्ब २/१०/१३

९०. पराशरस्मृति १०/१६-१७, १०/२४, ४/२८, ६/१५ इत्यादि।

९१. गौतम धर्मसूत्र २/२/२ साधुकारी साधुवादी।

९२. गौतम धर्मसूत्र १/८/३ प्रसूतीरक्षणमसंकरो धर्मः।

९३. वसिष्ठ धर्मसूत्र ९/२१ - स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात्सिद्धिः।

९४. गौतम धर्मसूत्र २/२/१२

९५. वसिष्ठ धर्मसूत्र १९/७

९६. विष्णु धर्मसूत्र ३/९४ स्वधर्ममपालयन्नदण्ड्यो नामास्ति राज्ञः।

९७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/१०/९, धार्म्यं शुल्कमवहारयेत्।

९८. नारदस्मृति १/३७-३८

ऋग्वेद में मिलता है। धर्मसूत्रों में अर्थव्यवस्था का बृहद् रूप दिखलाई पड़ता है। इनमें स्वामित्व[९९], उत्तराधिकार एवं दायविभाग[१००] विषयों पर विस्तृत विमर्श किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने की बात कही है, जिसका आपस्तम्ब तथा बौधायन ने भी समर्थन किया है।[१०१] असवर्णा पत्नी के पुत्रों का दायभाग पर विमर्श मिलता है। आपस्तम्ब एवं विष्णुधर्मसूत्र पुत्र के अभाव में पुत्री को सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित करते हैं।[१०२] स्त्रीधन की व्यवस्था तथा उत्तराधिकार के सन्दर्भ में आपस्तम्बधर्मसूत्र के अतिरिक्त सभी धर्मसूत्रों ने पुत्रों के भेद गिनाये हैं। गौतम ने छ: बौधायन ने १४, वसिष्ठ तथा विष्णु ने बारह[१०३] प्रकार के पुत्रों की गणना की है। ऋण के आदान–प्रदान की व्यवस्था धर्मसूत्रों में मिलती है। मनुस्मृति में भी दायभाग[१०४], ज्येष्ठ पुत्र के विशेष[१०५] अंश[१०६], स्त्रीधन बारह प्रकार के पुत्रों का विशद वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहार अध्याय में सम्पूर्ण दायविभाग प्रकरण तथा ऋणादान प्रकरण मिलता है। नारदस्मृति के चतुर्थ अध्याय में दायभाग तथा ऋणादान पर विस्तृत वर्णन प्राप्त होता हैं।[१०७] पराशरस्मृति में भी संक्षेप में दाय के अधिकारी ६ प्रकार के पुत्रों का वर्णन[१०८] तथा दायाधिकार पर सूक्ष्म संकेत प्राप्त होते हैं।

अत: उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह नि:सन्देह प्रमाणित है कि अक्षुण्ण वैदिक परम्परा को संरक्षित कर उसे जनमानस तक पहुँचाने का श्लाघनीय कार्य स्मृति साहित्य ने किया है।[१०९] इसलिए हारीत स्मृति में श्रुति एवं स्मृति को ब्राह्मणों के लिए दो देवनिर्मित नेत्र कहा है। स्मृति साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाली मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति पूर्णतया वैदिक अभिप्राय से ओतप्रोत हैं। वेदार्थ के अनुसार रचित होने के कारण मनुस्मृति की

---

९९. गौतम २/१/३९ स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु।

१००. आपस्तम्ब – २/१४/१

१०१. डॉ० शान्तिपाण्डेय – धर्मसूत्र परिशीलन, पृ० ४३६

१०२. आपस्तम्ब २/७/९ – अलंकारो भार्याया: ज्ञातिधनं चेत्येके। गौतम ३/१०/२२ स्त्रीधनं दुहितृणामप्रमत्तानाम-प्रतिष्ठितानां च।

१०३. विष्णु धर्मसूत्र १५/१–२७

१०४. मनुस्मृति ९/१०३

१०५. मनुस्मृति ९/११७

१०६. मनुस्मृति ९/१९८

१०७. मनुस्मृति ९/१५९ – औरस: क्षेत्रजश्चैव दत्त: कृत्रिम एव च।। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्।

१०८. पराशरस्मृति – ४/२३-२४

१०९. हारीतस्मृति – १/२४– श्रुतिस्मृती च विप्राणां चक्षुषी देवनिर्मिते।

प्रधानता है।[११०] मनु ने यहाँ तक कहा है कि जो स्मृतियाँ वेदबाह्य (अवेदमूलक) हैं, वे सब परलोक में निष्फल हैं।[१११] स्वामी विवेकानन्द ने कहा है- यदि स्मृतियों का कोई अंश वेदान्त का विरोधी हो, तो उसे त्यागना पड़ेगा, उसका कोई प्रामाण्य नहीं रहेगा[११२]महाकवि कालिदास ने **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'**[११३] कहकर स्मृतियों के वैदिक लक्ष्यानुवर्तिता को प्रमाणित किया है।

---

११०. बृहस्पति स्मृतिः सं. का. श्लो. १३- वेदर्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।।

१११. मनुस्मृति १२/९५

११२. स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म, पृ० २९

११३. रघुवंश - २.२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०७०-७९)

धर्मशास्त्रों में: विवाह-व्यवस्था

डॉ. स्नेहलता[1]

विश्व की सुसभ्य प्रजातियों में विवाह अति प्राचीन संस्कार है। इसका उद्देश्य अनुशासन बनाए रखते हुए सन्तानोत्पति एवं सामाजिक तथा धार्मिक दायित्वों का निर्वाह करना है। जिसके अभाव में मानवों का पूर्ण वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास संभव नहीं है।[2] विवाह शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'ले जाना' होता है। 'उद्वहनम् - नयनम्'। विवाहोपरान्त पति के द्वारा ले जाने के कारण ही इस संस्कार को 'विवाह संस्कार' कहा गया है।[3] भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह एक पवित्र 'संस्कार' है, ऐसा माना जाता है, जो हिन्दु विवाह अधिनियम, १९५५ के पूर्व हिन्दु शास्त्रों में बतलाई गई गतिविधियों एवं रीति-रिवाजों से ही सम्पन्न किया जाता है। इसके पीछे ऐसी धारणा रही है कि विवाह के पश्चात् पत्नी पति के शरीर का आधा अङ्ग बन जाती है। इसलिए उसे 'अर्धांगिनी' कहा गया है। तथा इसी आधार पर विवाह को 'अटूट बन्धन' माना गया है और विवाह को स्त्री और पुरुष की इन्द्रियसुख हेतु मिलन न मानकर पति-पत्नी की आत्माओं का एक-दूसरे से मिलन माना जाता रहा है।[4]

ब्रह्मचर्य आश्रम के उपरान्त 'स्नातक' 'विवाह संस्कार' के द्वारा ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था,[5] ऐसा विधान मिलता है। सत्यार्थ-प्रकाश में उद्धृत मनु के कथनानुसार गुरु की आज्ञा से स्नानकर गुरुकल में अनुक्रमपूर्वक आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।[6]

---

१. प्रवक्ता संस्कृत एवं कार्यकारी प्राचार्या, एपीजीव सरस्वती पी.जी. कालेज, चरखी दादरी.

२. डॉ० उपाध्याय वेदप्रकाश - हिन्दु विधि अधिनियम, १९५५, ५-१ डॉ० सुनीता कुमारी श्रीवास्तव - वैदिक साहित्य में वर्ण व्यवस्था, पृष्ठ १०३, अ० ५

३. याज्ञवल्क्यस्मृति-विवाह-प्रकरण, श्लोक ५२, पृ० - १५

४. लेखक इन्द्रजीत मल्होत्रा - हिन्दु विवाह अधिनियम, पृष्ठ १,

५. वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्। अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमावसेत्।। गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। - मनुस्मृति अध्याय -२, श्लोक ४, पृष्ठ २२३-२४

६. गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। - दयानन्द सरस्वती रचित - सत्यार्थ-प्रकाश, सम्मुल्लास ४, दूरदेशे विवाह-प्रकरण, पृ० ७२

विवाह का क्षेत्र एवं स्वरूप

विद्वानों ने 'विवाह-संस्कार' रूपी इस पवित्र बन्धन को और अधिक गौरवन्वित बनाने के लिए धर्मशास्त्रों में इस पर अत्याधिक सोच-विचार किया है। मनु ने गुणवती और सवर्णा स्त्री के साथ विवाह करने का उल्लेख किया है।[७] याज्ञवल्क्य वर की योग्यता को बतलाते हुए 'सवर्णा वर' का प्रयोग करके इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।[८] सवर्ण विवाह का विधान दोनें स्मृतियों में भिन्न प्रकार से मिलता है, परन्तु इन्हीं स्मृतियों के अन्य विधानों को देखते हुए ऐसा आभास होता है कि सवर्ण विवाह का सिद्धान्त जटिल नहीं था। याज्ञवल्क्य तथा विष्णुस्मृति दोनों में वर्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः चार, तीन, दो और एक विवाह अनुलोम क्रम से कर सकते थे।[९] ब्राह्मण सवर्णा स्त्री से तो विवाह कर ही सकता था, वरन् इतरवर्णा स्त्री से भी विवाह कर सकता था। इसी प्रकार क्षत्रिय ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता अर्थात् तीन विवाह। इतरवर्णा और बहुपत्नी रखने के इस सिद्धान्त की पुष्टि महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् में उद्धृत राजा दुष्यन्त के इन कथनों से हो जाती है जैसे-**'अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्'** अर्थात् क्या यह कन्या (शकुन्तला) कुलपति कण्व की ब्राह्मणेतर पत्नी से तो उत्पन्न नहीं है?[१०] क्योंकि राजा दुष्यन्त क्षत्रिय होने के कारण उत्तम वर्ण अथवा ब्राह्मण वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकारी नहीं था। इससे तो इतरवर्णा की पुष्टि हो जाती है। दूसरे इस कथन से कि -'पत्नियों की बहुलता होने पर भी हमारे कुल की दो ही मर्यादा होंगी- **'एक तो समुद्ररूपी वस्त्र वाली यह पृथ्वी, दूसरी तुम्हारी यह सखी (शकुन्तला)।**[११] इससे बहुपत्नी रखने के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि कवि कालिदास के समय में भी मनु का यह सिद्धान्त (इतरवर्णा और बहुपत्नी रखने का सिद्धान्त) प्रचलित था।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को देखते हुए ऐसा आभास होता है कि स्मृतियों में विवाह के नियम काफी लचीले थे तथा अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह होते थे। परन्तु यह तभी कहा जा सकता है जब इन शास्त्रों की शैली को जिस शैली में इनमें अन्य वर्ण की स्त्री ग्रहण करने जो विधान है, उसे उचित रूप से न समझा

---

७. मनुस्मृति - अ० २, श्लोक ४१, पृ० १४३ याज्ञवल्क्यस्मृति, श्लोक १३, पृ० ६, ब्रह्मचारी प्रकरण।

८. एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः क्षत्रियो वरः। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५५-६२ पृ० १८-२०.

९. तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्। ब्राह्मण क्षत्रियवंशा भार्या स्वा शूद्रजन्मनः।। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५७ पृ० १९. अथ ब्राह्मणस्य वर्णानुक्रमेण चतस्रो भार्या भवन्ति। तिस्रः क्षत्रियस्य। द्वे वैश्यस्य। एकशूद्रस्य।। - विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० २४, श्लोक १-४, पृ० ३९८.

१०. महाकवि कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम् - प्रथम अंक, श्लोक १९, पृ० ६४.

११. परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः। समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ।। महाकवि कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम् - तृतीय अंक, श्लोक १८, पृ० १२९.

जाए। वस्तुतः स्मृतियाँ अन्य वर्णों में विवाह करने को प्रोत्साहित नहीं करती थीं। इसका स्पष्टीकरण अग्रिम बातों से हो जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल सवर्णा स्त्री को 'यज्ञ' कार्यों में भाग लेने का अधिकार है।[१२] इसके अतिरिक्त मनु तथा याज्ञवल्क्य और विष्णु तीनों ने ही समान रूप से सवर्ण विवाह में 'पाणिग्रहण' संस्कार की विधि का उल्लेख किया है। अन्य वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करने में 'पाणिग्रहण' के स्थान पर 'प्रतीक ग्रहण' का विधान मिलता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय विवाह में 'पाणिग्रहण' के स्थान पर 'शरग्रहण' कर सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के साथ वैश्य कन्या के विवाह में 'चाबुक' ग्रहण किया जाएगा (बैल आदि हांकने का चाबुक ग्रहण किया जाएगा 'पाणिग्रहण' के स्थान पर)। ऐसा विधान मिलता है। यदि शूद्र तीनों में से किसी के साथ विवाह करता है तो उसके लिए 'पाणिग्रहण' के स्थान पर 'वस्त्र का छोर' ग्रहण करने का विधान है।[१३] यहाँ पर शर, चाबुक तथा वस्त्र का छोर 'प्रतीक' के रूप में व्यवहृत हो रहें हैं अर्थात् विवाह हो रहा है, परन्तु पाणिग्रहण नहीं हो रहा है। अतः स्पष्ट है कि असवर्णा के ग्रहण को यदि विवाह की संज्ञा दी गई है तो वह केवल इसीलिए कि उस समय समाज में यदा-कदा उदाहरण प्राप्त होते रहेंगे। नाम की दृष्टि से तो विवाह कर दिया गया है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से कामना शान्ति का माध्यम मात्र ही रहने दिया गया है। अत एव स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रों के अनुसार सवर्ण विवाह को ही मान्यता प्रदान की गई थी और समाज में प्राप्त असवर्ण विवाहों के उदाहरण प्राप्त होने के कारण ही इन विवाहों के परिणाम दिखलाकर असवर्ण विवाहों को केवल सुविधा की दृष्टि से विवाह की 'संज्ञा' प्रदान की गई थी। इनमें वास्तव में वैवाहिकता नहीं थी।

वैवाहिक नियम

स्मृतियों में वैवाहिक नियमों के विषय में भी विवेचन मिलता है। मनु के अनुसार वर्ण के अन्तर्गत 'सपिण्ड और सगोत्र' विवाह निषिद्ध था। सात पीढ़ी पर्यन्त सपिण्डता कही गई है।[१४] इन्होंने 'मातु असपिण्डा'

---

१२. सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्। - याज्ञवल्क्यस्मृति, विवाह-प्रकरण, श्लोक ८८, पृ० २९.

१३.पाणिग्रहण संस्कारः सवर्णासूपदिश्यते। असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणा। शरः क्षत्रिया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥ मनुस्मृति-अ० ३, श्लोक ४३-४४ पृ० २४९. पाणिग्राह्यं सवर्णासु ग्रहणीयाद् क्षत्रिया शरम्। वैश्या प्रतोदमादधाद्वेदने त्वमग्रजन्मनः।। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ६२, पृ० २०. तासां सवर्णावेदने पाणिग्राह्यः। असवर्णा वेदने शरः क्षत्रियकन्यया।। प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनदशान्तः शूद्रकन्यया। - विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, अ० ४, श्लोक ५-८, पृष्ठ ३९८.

१४. सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। - मनुस्मृति - अ० ५, श्लोक ६०, पृ० ४२६

कहकर माता की ओर से 'सपिण्ड' निर्णयों का विवेचन किया है।[१५] परन्तु याज्ञवल्क्य केवल 'असपिण्डा' शब्द का प्रयोग करते हैं।[१६] अन्य श्लोक में याज्ञवल्क्य माता से पाँच और पिता से सात पीढ़ी पूर्व तक सपिण्डता का उल्लेख करते हैं।[१७] अत: याज्ञवल्क्य के अनुसार सपिण्डता माता और पिता दोनों के कुल की देखी जानी चाहिए। विष्णुस्मृति ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[१८]

विष्णुस्मृति में विवाह सम्बन्धी दूसरा नियम 'सगोत्र' का है। वर और कन्या पक्ष को एक ही गोत्र का नहीं होना चाहिए अर्थात् वे भिन्न प्रवर या गोत्र वाले होने चाहिए।[१९] एक ही ऋषि की परम्परागत सन्तानें सगोत्र कहलाती हैं। मनु के अनुसार असगोत्र विवाह द्विजों (संस्कारित युवक/युवतियों) के लिए होगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी 'सत्यार्थ-प्रकाश' मे मनु के इस कथन का उद्धरण देते हुए कहा है कि जो कन्या माता के कुल की छ: पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना चाहिए।[२०] याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते कि 'असगोत्र' विवाह केवल द्विजों (संस्कारित युवक/युवतियों) के लिए होगा। उन्होंने केवल 'असमानार्षगोत्रजा' कहा है। विष्णुस्मृति में इस विषय में स्पष्ट कहा गया है।[२१] याज्ञवल्क्य स्मृति में मिताक्षरी टीका में 'असमानार्षगोत्रजा' त्रैवर्णिक विषयक बताया है। वस्तुत: शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यहाँ एक ही ऋषि के गोत्र की कन्या न होना ही बतलाया गया है।[२२]

वैवाहिक विशेषताएँ

उपर्युक्त प्रतिबन्धों के अतिरिक्त वर और कन्या पक्ष की वैवाहिक योग्यताओं को बतलाते हुए मनु का कहना है कि अत्यन्त समृद्ध 'कुल' होने पर भी निम्नलिखित १० कुलों को विवाह के लिए न चुनें। जैसे-

---

१५. असपिण्डा च या मातु:। - मनुस्मृति अ० ३, श्लोक५, पृ० २२८

१६. अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५२, पृ०१५

१७. पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृत: पितृतस्तथा। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५३, पृ० १७

१८. सगोत्रं न समानार्षप्रवरां भार्यां विन्देत्। मातृतस्त्वा पञ्चमात् पुरुषात् पितृतश्चासप्तमात्। - विष्णुस्मृति, विवाह-प्रकरण, अ० २४, श्लोक ९-१०, पृ० ३९९

१९. असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा या पितुः। स प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।। - मनुस्मृति - अ० - ३, श्लोक ५, पृ० २२८.

२०. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ-प्रकाश - दूरदेशे विवाह - प्रकरण में, श्लोक ४, पृष्ठ ७३.

२१. अरोगिणि मातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक, ५३, पृ० १६. - विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, अ० २४, श्लोक ९, पृष्ठ ३९९.

२२. असमान गोत्रजाम् इत्येतत् त्रैवर्णिकविषयम्। - मिताक्षरी टीका - या० स्मृ०, वि० प्रकरण, श्लोक ५३, पृष्ठ १६.

१.जिस कुल में उत्तम क्रिया न हों।

२.जिस कुल में कोई उत्तम अर्थात् सत्पुरुष न हो।

३.जिसमें कोई विद्वान् न हो।

४.जिस कुल में पुरुषों के शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों।

५.जिस कुल में बवासीर रोग हो।

६.जो कुल राजयक्ष्मा आदि रोग से मुक्त हों।

७.मन्दाग्नि वाले कुल को।

८.जिस कुल में अपस्मार (मृगी) का रोग हो।

९.श्वेत कुष्ठ वाले कुल को।

१०.गलित कुष्ठ वाले को।[२३]

डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे रचित धर्मशास्त्र का इतिहास में भी राजरोग (मिर्गी) चरम एवं कुष्ठ रोग का वर्णन मिलता है।[२४] याज्ञवल्क्य संक्षिप्त रूप में मनु का अनुसरण करते हैं,[२५] परन्तु विष्णुस्मृति में इस विषय में कोई उल्लेख नहीं है।

कुल के विषय में बतलाने के बाद मनु कन्या की अयोग्यताओं पर भी विचार करते हैं। उनके अनुसार निम्नलिखित कन्याएँ विवाह के अयोग्य हैं-

१.कपिल (पीले) वर्ण वाली कन्या।

२.अधिकांगी जैसे - छंगुली आदि।

३.रोगवती (नित्य रोगिणी रहने वाली)

४.जिसके शरीर पर कुछ भी रोम न हो या बहुत अधिक हों।

५.वाचाल अथवा व्यर्थ बोलने वाली।

६.पिंगला (पीले बिल्ली के सदृश नेत्र वाली)।

इसके अतिरिक्त जिनके नाम नक्षत्र जैसे रेवती, रोहिणी इत्यादि। प्रेष्य जैसे- दासी इत्यादि। पर्वत जैसे

---

२३. महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्।। हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमाशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च।। मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ६-७, पृ० २९९.

२४. धर्मशास्त्र का इतिहास - डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे, - पृ० संख्या, १३९, अध्याय २८.

२५. स्फीत्यादि न संचारिरोगदोषसमन्वितात्। - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५४, पृष्ठ १८.

विन्ध्याचल। पक्षी जैसे – कोकिला हंसा अहि जैसे- उर्गा, भोगिनी इत्यादि और जिस कन्या का नाम कालिका, चण्डिका इत्यादि हों, उससे भी विवाह न करे।[२६] विष्णुस्मृति ने भी मनु के द्वारा विवेचित नामों को छोड़कर अन्य योग्यताओं को उसके (मनु के) समान ही माना है।[२७] उपर्युक्त अयोग्यताओं तथा पहले कही गई अयोग्यताओं के आधार पर वंशानुक्रम से आने वाले दोषों का विवाह संबन्ध के द्वारा नवीन परम्परा में जाने से रोकना ही ज्ञात होता है। प्राय: यह देखा भी जाता है कि ऐसे रोग जो किसी वंश के रक्त में हो जाते हैं, उनका दूसरे वंशों के साथ रक्त संबन्ध होने से वे रोग दूसरे वंशो में चले जाते हैं। इसी कारण मनु ने इनकों वर्जित माना है। बाद में बतलाई गई अयोग्यताओं के आधार पर यह मनोवैज्ञानिक ही जान पड़ता है। पर्वतादि नामधारिणी स्त्री अपने नाम के द्वारा कठोरता व्यक्त करती है। इसका प्रभाव चाहे चेतन मन पर न पड़े, परन्तु अन्तर चेतना पर अवश्य पड़ता है। इसी प्रकार भीष्म और भंयकर नाम वाली स्त्री अपने कर्ण कटु नाम के द्वारा अप्रियता को ही व्यक्त करती है। यह भी गृहस्थ जीवन के सौभाग्य वातावरण में प्रतिकूलता उत्पन्न करने का कारण हो सकता है।

कन्या की योग्यताओं के सम्बन्ध में मनु का विचार इन अयोग्यताओं से सर्वथा भिन्न ही था। उन्होंने विवाह के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ अपेक्षित मानी हैं-[२८]

१.अङ्गों से हीन हो।

२.सुन्दर नाम वाली हो।

३.हंस या हथिनी के समान चाल वाली हो।

४.सूक्ष्म लोम (रोम), केश और दांतों से युक्त हो।

५.जिसके सभी अङ्ग कोमल हों। ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए।

परन्तु इन गुणों से युक्त कन्या भी अयोग्य हो सकती थी। अभ्रातृमती (जिसका भाई न हो) तथा जिसके पिता का ज्ञान न हो उसे भी 'पुत्रिका धर्म' (पुत्रिका उसे कहते हैं जिसके ज्येष्ठ पुत्र को उसका नाना गोद ले लेता है) की शंका से ग्रहण नहीं करना चाहिए।[२९] मनु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस विधि से पिता इस कन्या

---

२६. नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकांगीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिंगलाम्।। नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्।। मनुस्मृति, ३.८-९ पृ० २२९-३०.

२७. नाकुलीनाम्। न च व्याधिताम्। नाधिकांगीम्। न हीनांगीम्। नातिकपिलाम्। न च वाचालाम्।। - विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, अ० ४, श्लोक ११-१६, पृ० ४०४.

२८. अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्।। मनुस्मृति ३.१०

२९. यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया।। मनुस्मृति ३.११

से जो पुत्र पैदा हो वह उसे गोद लेकर उस कन्या को 'पुत्रिका' कर सकता है।[३०] अत एव पुत्रिका से विवाह करने पर पति अपने ऋण-त्रय (पितृ ऋण, ऋषि ऋण और राष्ट्र ऋण) से मुक्त नहीं होगा, क्योंकि उसका पुत्र कन्या के पिता को ऋण मुक्त करेगा। अत: विवाह का फल उसे प्राप्त नहीं होगा, इस बात को ध्यान में रखते हुए पुत्राकांक्षी को भ्रातृमती से विवाह करना चाहिए।[३१]

कन्या पक्ष की वैवाहिक योग्यताओं के उपरान्त वर पक्ष की योग्यताओं पर भी विचार किया गया है। मनु अति उत्कृष्ट, गुणवान्, अच्छे स्वभाव वाले तथा कन्या के सदृश रूप लावण्य वाले वर को कन्या देने का आदेश देते हैं। यदि सुयोग्य वर मिल जाए तो कन्या की आयु कम होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए; परन्तु गुणहीन को कन्या कभी भी नहीं देनी चाहिए, चाहे वह कन्या जीवन पर्यन्त घर में ही रहे।[३२] याज्ञवल्क्य ऐसे वेदपाठियों के कुल को योग्य समझते हैं, जिसमें मातृकुल में पाँच तथा पितृकुल में भी पाँच जिसमें विख्यात हों, यह योग्यता वर तथा कन्या दोनों के लिए कही गई है। इसके साथ ही 'पुंस्त्व' परीक्षण भी करने का आदेश देते हैं,[३३] परन्तु विष्णुस्मृति में इस प्रकार का कोई विधान नहीं मिलता।

उपर्युक्त नियम वर तथा कन्यापक्ष की वैवाहिक योग्यता निर्धारित करने वाले 'विवाह-संस्कार' के महत्त्व को ही प्रदर्शित करने वाले हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण संस्कार के लिए यह आवश्यक था कि इसमें इतनी छान-बीन की जाए कि किसी प्रकार की त्रुटि न रह जाए। मनु तथा याज्ञवल्क्य तो विवाह-संस्कार सम्बन्धी सभी नियमों तथा योग्यताओं की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अत: स्पष्ट है कि उस समय इन नियमों का विशेष महत्त्व था।

समाज के विभिन्न वर्णों में विद्यमान वैवाहिक स्वरूपों को स्मृतिकारों ने 'अष्ट विवाह प्रणाली' के अन्तर्गत बद्ध किया है। मनु के अनुसार विवाह के आठ प्रकार इस प्रकार से हैं - ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।[३४] इन विवाहों को वर्ण के अनुसार भी संयोजित किया गया है। गिनाये हुए

---

३०. अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधारकम्॥ मनु० ९.१२७

३१. धर्मशास्त्र का इतिहास (पी० वी० काणे विरचित) में मिताक्षरी टीका याज्ञवल्क्य ३/२/७० का उद्धरण इसी बात का समर्थक है।

३२. उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि॥ काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनुस्मृति, अ० ९, श्लोक ७७-७८, पृ० ७६५

३३. याज्ञवल्क्यस्मृति - विवाह-प्रकरण, श्लोक ५४, तथा इसी की मिताक्षरी टीका, पृ० १७-१८ - याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, श्लोक ५५, पृ० १८

३४. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनुस्मृति३.२१

क्रम के अनुसार ब्राह्मण के लिए छ: विवाह पहले वाले, अन्तिम चार क्षत्रिय के लिए वैश्य तथा शूद्र के लिए राक्षस विवाह को छोड़कर अन्तिम तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच) धर्मानुकूल बतलाए हैं।[३५] परन्तु गौतम ने केवल चार प्रकार के विवाह ही सभी के लिए श्रेष्ठ माने हैं।[३६] यहाँ विधान साधारण नियम मात्र ही बतलाया है, क्योंकि इसी के उपरान्त मनु ब्राह्मणादि के लिए प्रशस्त (श्रेष्ठ) विवाहों का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण के लिए प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रशस्त माने गये हैं, इनमें भी महत्त्व क्रमशः को ही रखा गया है। अर्थात् ब्राह्म अधिक प्रशस्त, दैव उससे कम, इसके बाद आर्ष तथा प्राजापत्य विवाह ब्राह्मण के लिए प्रशस्त होते हुए भी उसको अन्तिम महत्त्व दिया गया है। इसी तरह क्षत्रिय के लिए केवल राक्षस विवाह ही प्रशस्त माना गया है। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि वर्णानुरूप विवाह को बतलाते समय राक्षस विवाह केवल क्षत्रिय के लिए ही बतलाया गया था। अन्य वर्ण को इस प्रकार (राक्षस) विवाह करने की अधिकारिता नहीं थी। वैश्य और शूद्र के लिए केवल 'आसुर विवाह' ही प्रशस्त माना गया है।

विष्णुस्मृति में तो प्रथम पाँच प्रकार के विवाहों से विभिन्न लोकों की प्राप्ति का भी वर्णन है। जैसे ब्राह्म से ब्रह्मलोक की, दैव से स्वर्गलोक की और गान्धर्व से गान्धर्व लोक की प्राप्ति होती है।[३७] इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने स्तर के अनुकूल विवाहों का फल प्राप्त होता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह निम्न कोटि के विवाहों का वरण न करे। समाज में विवाह संस्कार एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यह ऊपर वर्णित विषय से ज्ञात है ही। इसीलिए इसे गम्भीरता पूर्वक लिया गया है।

अब अन्त में विवाह जैसे गम्भीर विषय को ध्यान में रखते हुए अब उपर्युक्त विवाहों के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय देना अनुपयुक्त न होगा जो इस प्रकार है:-

१. ब्राह्म-विवाह

ब्राह्म विवाह उसे कहते हैं, जिसमें कन्यादाता योग्य वर को बुलाकर उसे वस्त्रादि देकर तथा सत्कार करके कन्या दान करता है।[३८]

२.दैव-विवाह

दैव-विवाह वह है जिसमें यज्ञ में ऋत्विज को उसके कार्य करते समय वस्त्रालंकार से अलंकृत कर

---

३५. विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० २४, श्लोक १७-१८ पृ० ४०५. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक २३, पृ० २३७.

३६. गौतम धर्मसूत्र - अ० ४, सूत्र ७ १२, १३, पृ० ४१.

३७. विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० २४, पृ० ४०८.

३८. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक २७, पृष्ठ २३८.

कन्या को प्रदान किया जाए।[३९]

३.आर्ष-विवाह

आर्ष-विवाह उसे कहते हैं जहाँ वर से धर्मानुसार गाय, बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े लेकर कन्यादान करे।[४०]

४.प्राजापत्य-विवाह

कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सबके सामने 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थाश्रम के धर्मों को यथावत् करो' ऐसा कहकर दोनों का प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना प्राजापत्य विवाह कहलाता है। विष्णुस्मृति केवल इतना कहती है कि प्रार्थी को कन्या प्रदान करना प्राजापत्य है।[४१]

५.आसुर-विवाह

मनु के अनुसार वर की जाति वालों और कन्या को यथाशक्ति धन दे के होमादि विधि कर कन्या को दान देना आसुर-विवाह कहलाता है।[४२]

६.गान्धर्व-विवाह

मनु के अनुसार वर तथा कन्या की इच्छानुसार परस्पर अनुरक्त होकर संयोग होना गान्धर्व-विवाह कहलाता है। याज्ञवल्क्य भी इसी मत का समर्थन करतें हैं। विष्णु इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं। उनके अनुसार वर तथा वधू की इच्छा से किन्तु माता-पिता से रहित होने पर, होने वाला संयोग गान्धर्व-विवाह है।[४३] गान्धर्व विवाह का ज्वलन्त उदाहरण हमें अभिज्ञानशाकुन्तलम् में देखने को मिलता है जैसे कि राजा दुष्यन्त के शब्दों में, शकुन्तला को समझते हुए हे भीरु! अपने गुरुजनों का भय मत करो। तुम्हारे विषय में जानकर धर्म को जानने वाले पूज्य कुलपति इसे दोष नहीं मानेंगे, क्योंकि गान्धर्व विवाह द्वारा विवाहित बहुत सी राजर्षियों की कन्याएँ

---

३९. मनुस्मृति- अ० ३, श्लोक २८, पृष्ठ २३७.

४०. याज्ञवल्क्यस्मृति वि० प्र०, श्लोक ५९, पृष्ठ १९. मनुस्मृति :- अ० ३, श्लोक २९, पृष्ठ २४०. याज्ञवल्क्यस्मृति - विवाह-प्रकरण, श्लोक ५९, पृष्ठ १९. विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, अ० ४, श्लोक २१, पृष्ठ ४०५.

४१. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३०, पृ० २४२.

४२. प्रार्थी प्रदानेन प्राजापत्यः। वि० स्मृति - अ० ४, श्लोक २२, पृष्ठ ४०५. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३१, पृ० २४३. याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ०, श्लोक ६१, पृ० २०.

४३. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३२, पृ० २४४. विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० ४४, श्लोक २३, पृ० ४०६.

उनके पिताओं द्वारा अभिनन्दित हुई सुनी जाती हैं।[४४] अतः स्पष्ट है कि गान्धर्व-विवाह कवि कालिदास के समय में भी होते थे।

७.राक्षस-विवाह

मनु ने कन्या को रोकने वालों को मारकर अथवा काटकर (युद्ध करके) बलपूर्वक रोती, कांपती, चिल्लाती एवं भयभीत हुई कन्या का अपहरण करना राक्षस विवाह कहा है। याज्ञवल्क्य तथा विष्णु केवल इतना ही कहते हैं कि युद्ध हरण से राक्षस-विवाह होता है।[४५]

८.पैशाच-विवाह

सोती हुई मद से व्याप्त (नशे में) उन्मत हुई कन्या का एकान्त में कौमार्य हरण करना पैशाच-विवाह कहा गया है।[४६] स्मृमियों में पैशाच विवाह का उल्लेख करने से यह अभिप्राय नहीं है कि इसे मान्यता प्रदान की गई थी। बल्कि उसे सबसे 'निकृष्ट' और 'अधम' कहा गया है। इसके उल्लेख किए जाने का कारण है कि इस सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले को उस कन्या का तथा तज्जन्य सन्तान का भरण-पोषण का भार वहन करने के लिए बाध्य करना था, ताकि उसकी इस प्रकार की सन्तान उसकी सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त कर सके।[४७]

उपर्युक्त विवाहों के प्रकारों के नामकरण में पैशाच तथा राक्षस विवाह अपने अर्थ के सर्वथा अनुकूल है। मनु के अनुसार इस लोक या व्यवहार में अन्तिम पाँच प्रकार के विवाहों में से तीन (प्राजापात्य, गान्धर्व, राक्षस) विवाह धर्मानुकूल नहीं है। इसलिए इनको कभी नहीं करना चाहिए।[४८] यहाँ पर इनसे बचने के लिए संकेत किया गया है।

निष्कर्ष:-

अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि विवाह एक गहरा आत्मिक सम्बन्ध है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। इस गहन विषय की ओर ध्यानाकर्षित करने से मेरा अभिप्राय यही है कि विवाह सम्बन्धी योग्यताओं, अयोग्यताओं एवं विवाह के प्रकारों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए तो केवल एक परिवार की ही नहीं बल्कि समस्त समाज की बिगड़ती हुई स्थिति को और अधिक बिगड़ने से बचाया जा सकता है।

---

४४. भीरु! अलं गुरुजभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च -गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।। कालिदास, अभि०- अंक ३, पृ० १३३.

४५. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३३, पृ० २४४.

४६. मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३४, पृ० २४५. याज्ञवल्क्यस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० ३, श्लोक ६१, पृ० २०. विष्णुस्मृति विवाह-प्रकरण, - अ० २४, श्लोक २६, पृ० ४०६.

४७.मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक ३४, पृ० २४५.

४८ ४७.मनुस्मृति - अ० ३, श्लोक २५, पृ० २३०.

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०८०-८७)

प्रत्याहार-साधना

प्रो. ईश्वर भारद्वाज[1]
देवेन्द्र कुमार आर्य (शोधछात्र)[2]

प्रत्याहार का अर्थ

प्रत्याहार पद दो शब्दों के संयोग से बना है प्रति+आहार अर्थात् इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से अवरुद्ध करना। इस प्रकार प्रत्याहार का अभिप्राय हुआ कि पांच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध टूट जाने पर चित्त के अनुरूप हो जाना।[3] चित्त जब प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास द्वारा एकाग्रता के योग्य हो जाता है तो उसे किसी भी विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। इसी प्रकार से जहाँ-जहाँ पर चित्त जाता है, वहीं पर सब इन्द्रियाँ चित्त का अनुसरण करती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है।

प्रत्याहार की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर सभी इन्द्रियाँ साधक के पूर्णरूपेण वश में आ जाती हैं। ध्यान करते समय जब किसी इन्द्रिय का बाहर के विषय के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है तो चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है। जैसे कि ध्यानकाल में श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ सम्बन्ध होता है तो श्रोत्रेन्द्रिय चित्त को बाहर के विषय की ओर खींच लेती हैं, परन्तु प्रत्याहार की सिद्धि होने पर सभी इन्द्रियाँ चित्त के अनुसार चलती हैं, इस अवस्था में ध्यान करने वाले को कोई भी इन्द्रिय बाधित नहीं करती है। इसलिए प्रत्याहार को सिद्ध करके समाधि तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

उपनिषदों में इन्द्रियों को पराङ्मुख कहा गया है[4] अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट रहती हैं, जिन पर नियन्त्रण कर पाना असहज होता है, किन्तु प्राणायाम से प्रथम चित्त को निरुद्ध करके इन्द्रियों को भी निरुद्ध बनाया जा सकता है, फिर वे इन्द्रियाँ चित्त का ही अनुसरण करती हैं।

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२. शोधछात्र, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
३. स्वविषययासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो०सू० २/५४

४. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन:। कठ० २/१/१

उपनिषदों में प्रत्याहार का स्वरूप व साधना

ईशादि मुख्य एकादशोपनिषद् में प्रत्याहार के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है, किन्तु प्रश्नोपनिषद् में प्राण की महिमा बताते हुए यह दृष्टान्त दिया गया है कि प्राण के आश्रय से सभी इन्द्रियाँ उसी प्रकार रहती हैं, जिस प्रकार रानी मक्खी के आश्रय से अन्य मक्खियाँ।[५] इससे यह द्योतित होता है कि प्राण व इन्द्रियाँ का परस्पर सम्बन्ध है। तभी प्राणों के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। योदर्शन में भी प्राणायाम की सिद्धि के बाद ही प्रत्याहार का विधान दर्शाया गया है।[६] इससे यह प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार ने यद्यपि प्रत्याहार के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, लेकिन यहाँ पर संकेत प्रत्याहार की ओर ही है।

शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ पर इसके चार भेद बताये गये हैं-

(क) विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों का बलपूर्वक रोकना।

(ख) जो कुछ भी देखा जाए, उसे आत्मा के अनुरूप ही देखा जाये।

(ग) तृतीय परिभाषा के अन्तर्गत नित्य तथा विहित कर्मों के फल त्याग को भी इस उपनिषद् में प्रत्याहार माना गया है।

(घ) चतुर्थ परिभाषा के अन्तर्गत सभी विषयों से पराङ्मुख होना प्रत्याहार कहलाता है।[७] इसी प्रकार मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में भी विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार कहा गया है।[८] इससे यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों में प्रत्याहार का विवेचन उसी प्रकार किया गया है, जिस प्रकार योगदर्शन में। योगदर्शन में भी प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रियों को उनके विषय से हटाना तथा चित्तस्वरूपानुगामी कहा है।[९] प्रत्याहार की परिभाषा से पूर्व प्राणायाम का वर्णन किया गया है। प्राणायाम के द्वारा चित्त के वश में होने से ही इन्द्रियाँ भी चित्तानुगामी होती हैं। यही बात प्रश्नोपनिषद् में कही गयी है कि प्राण के आश्रय से सभी इन्द्रियाँ उसी प्रकार रहती हैं, जिस प्रकार रानी मक्खी के आश्रय से अन्य मधुमक्खियाँ। वस्तुतः प्राणायाम की सिद्धि होने पर ही प्रत्याहार, धारणा,

---

५. यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एवं प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति। प्रश्नो० २/४

६. योगदर्शन २/५१-५४

७. (क) विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। शाण्डिल्यो० १/६८ (ख) नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। वही, १/६८ (ग) सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। वही० १/६८

८. इन्द्रियार्थेभ्यो मनोविरोधनं प्रत्याहारः। मण्डल ब्रा०प्र० ३४७

९. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो०सू० २/५४

ध्यान एवं समाधि सिद्ध होती है। इन्द्रियाँ स्वभावत: बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं। यदि बलात् उन्हें विषयों से हटा भी लिया जाता है, तब भी मन के अन्दर विषयों का ध्यान चलता रहता है। अत: प्रथम प्राणायाम के द्वारा चित्त को निरुद्ध किया जाता है, चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ भी स्वभावत: निरुद्ध होने लगती हैं, इन्द्रियों के निरुद्ध होने पर प्रत्याहार की सिद्धि हो जाती है।

शिव-संहिता में प्रत्याहार का स्वरूप व साधना

शिव-संहिता में प्रत्याहार के विषय में विस्तृत रूप से कुछ भी नहीं कहा गया है। हाँ, इतना अवश्य कहा गया है कि प्राणायाम के सिद्ध होने से प्रत्याहार की सिद्धि होती है।[१०] योगदर्शन में प्राणायाम के बाद ही प्रत्याहार की सिद्धि बतायी गयी है। इसलिए अष्टाङ्ग योग में प्राणायाम के बाद ही प्रत्याहार का विधान किया गया है।[११]

गोरक्षसंहिता में प्रत्याहार को अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। वहाँ पर कहा गया है कि अपने-अपने विषयों में चरने वाली इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा देना प्रत्याहार कहलाता है।[१२] जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को समेटकर अपने ही अङ्ग में छिपा लेता है, वैसे ही योगी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मा में लीन कर लेता है।[१३]

इस प्रकार प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है और इन्द्रिय जय होने से ही वे आत्मा में तन्मय हो सकती हैं। यदि इन्द्रियाँ आत्मा में तन्मय हो जाती हैं, तब मन का भी निग्रह होने लगता है। चूंकि मन इन्द्रियों के द्वारा ही बाह्य पदार्थों में विचरता है। योगतत्त्वोपनिषद् में भी योगदर्शन के समान ही प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का विधान किया गया है।[१४]

वस्तुत: प्राणायाम के द्वारा मन संयमित हो जाता है, मन के संयमित हो जाने पर इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय से हट जाती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से हट जाना ही प्रत्याहार कलाता है।

योगदर्शन में प्रत्याहार का स्वरूप व साधना

योगदर्शन में प्रत्याहार का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जब इन्द्रियाँ विषयों के अभिमुख न

---

१०. याममात्रं यदा धर्तुं समर्थं स्यात्तदाद्भुत:। प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम्।। शि०स० २/२२

११. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि/यो०सू० २/२९

१२. चरतं चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहार स उच्यते।। गोरक्ष० २/२२

१३. अंगमध्ये यथागांन् कूर्म संकोचयेद् ध्रुवम्। योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि।। वही २/२४

१४. एक वारं प्रतिदिनं कुर्याद् केवल कुम्भकम्। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो तत्प्रत्याहरणं स्फुटम्।। योगतत्त्वो० २/१५

होकर स्वरूप में अवस्थित रहती हैं, उसे प्रत्याहार कहते हैं।[१५] सूत्र में प्रयुक्त इव पद इस बात को प्रदर्शित करता है कि इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुसरण सा करती हैं। वस्तुत: वे चित्ताभमुख नहीं हो सकतीं। प्रत्याहार की स्थिति में भी इन्द्रियाँ चित्त का साक्षात्कार नहीं करती, क्योंकि रूप, रस आदि अपने-अपने विषयों को छोड़कर अन्य किसी को ग्रहण करने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। अत: चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार निरुद्ध हो जाती हैं, जैसे रानी मक्खी के रुक जाने पर अन्य मक्खियाँ भी रुक जाती हैं।[१६]

प्रत्याहार का फल बताते हुए पतञ्जलि लिखते हैं कि तब इन्द्रियाँ सर्वथा वश में रहती हैं, उन पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है।[१७] इन्द्रियों की परमावश्यकता के सन्दर्भ में व्यास ने कुछ अन्य आचार्यों के मत को रखते हुए अपना भी विचार प्रस्तुत किया है-

(१) कुछ आचार्यों के अनुसार विषय विद्यमान रहने पर उनके अभाव के प्रति आसक्ति का भाव इन्द्रिय जय है।[१८]

(२) कुछ आचार्य मानते हैं कि अपनी इच्छा होने पर इन्द्रियों द्वारा विषयों का साक्षात्कार होना तथा इच्छा के अभाव में साक्षात्कार न होना इन्द्रिय जय है।[१९]

(३) अन्य आचार्य राग, द्वेष आदि के अभाव में सुख दु:खादि की अनुभूति के बिना ही शब्दादि विषयों के साक्षात्कार को इन्द्रिय जय मानते हैं।[२०]

(४) जैगीषव्य आचार्य के अनुसार चित्त के एकाग्र होने के कारण विषयों की ओर इन्द्रियों की वृत्ति न होना इन्द्रिय जय है।[२१]

प्रत्याहार के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत प्रकट करके व्यास अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी स्वत: ही निरुद्ध हो जाती हैं। उनके लिये अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं

---

१५. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:। यो०सू० २/५४

१६. स्वविषयासम्प्रयोगाभावे.....चित्तवन्ति रुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते... तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहार: यो० २/५४ पर व्या०भा०

१७. तत: परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। यो०सू० २/५५

१८. शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। यो० २/५४ पर व्या० भा०

१९. शब्दादिसम्प्रयोग: स्वेच्छयेत्यन्ये। यो० २/५५ पर व्या०भा०

२०. रागद्वेषाभावे सुखदु:खशून्यशब्दादिज्ञानमन्द्रियजय इति केचित्। यो० २/५५ पर व्या०भा०

२१. चित्तैकाग्र्याद् प्रतिपरितिरेवीति जैगीषव्य: । वही,

रहती। यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है।[२२]

प्रत्याहार समाधि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्याहार का सिद्धि के बिना आगे कदम ही नहीं बढ़ाया जा सकता है और प्रत्याहार प्राणायाम के बिना साध्य नहीं है। अतः साधक को प्रथम प्राणायाम के द्वारा चित्त पर अधिकार बनाकर इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। इसलिए पतञ्जलि ने प्रथम प्राणायाम का विधान किया, तदुपरान्त प्रत्याहार का इन्द्रियों को यदि बलात् विषयों से हटा भी लिया जाये, किन्तु मन से विषयों का ध्यान ही चलता रहे तो यह प्रत्याहार नहीं, अपितु मिथ्याचार ही है।[२३] अतः प्रथम प्राणायाम के द्वारा मन पर अंकुश लगाना चाहिए, तभी प्रत्याहार की सही अर्थ में सिद्धि होगी।

गीता में प्रत्याहार का स्वरूप व साधना

गीता आध्यात्मिक ज्ञान का सागर है। गीता में यद्यपि प्रत्याहार के विषय में प्रत्यक्ष तथा पारिभाषिक रूप से कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि योगदर्शन में प्रत्याहार का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वह पूर्णरूपेण गीता में उपलब्ध होता है। गीता मे बार-बार इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से पराङ्मुख होने की बात कही गयी है। जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को संकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेता है, वह पूर्ण चेतना में दृढ़ता पूर्वक स्थित हो जाता है।[२४] एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि जो अपनी चेतना को मुझ पर स्थित कर देता है, वह मनुष्य स्थित बुद्धिवाला कहलाता है[२५] तृतीय अध्याय के श्लोक संख्या ३४ में कहा गया है कि जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थ से दूर रख सके, उसकी प्रज्ञा स्थित रहती है[२६] यहाँ पर इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थ से दूर रखने का तात्पर्य इन्द्रियों को उनके अर्थ से हटाना ही है।

व्यास भाष्य में कहा गया है कि चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जाती हैं। यही बात गीता में पदे-पदे कही गयी है-मनुष्य को चाहिए कि संकल्प तथा श्रद्धा के साथ योगाभ्यास में लगे और पथ से विचलित न हो। उसे चाहिए कि मनोधर्म से उत्पन्न समस्त इच्छाओं को निरपवाद रूप से त्याग दें और इस प्रकार मन के द्वारा सभी ओर से इन्द्रियों को वश में करें।[२७] इन्द्रियाँ चित्त का अनुगमन करती हैं, चित्त के

---

२२. परमावश्यतात्वि यं यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेन्दिपवत्तप्रयत्न कृतमुपायान्तरमेपेक्षन्ते योगिन इति। वही,

२३. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते। गीता, ३-६

२४. यदा संहरते चायं कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। गीता २/५८

२५. तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता।। गीता २/६१

२६. तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। गीता २/६८

२७. संकल्प प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। गीता ६/२४

निरुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं, लेकिन चित्त का निरोध कैसे हो? योगदर्शन में प्रत्याहार से पहले प्राणायाम का विधान किया गया है, प्राणायाम के द्वारा चित्त निरोध करके इन्द्रियों को वश में लाया जा सकता है अर्थात् विषयों से हटाया जा सकता है। यही बात गीता में कही गयी है। समस्त विषयों को बाहर करके, दृष्टि को भौहों के मध्य में केन्द्रित करके, प्राण तथा अपान वायु को नथुनों के भीतर रोककर और इस तरह मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि को वश में करके जो मोक्ष को लक्ष्य बनाता है, वह योगी इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है, जो निरन्तर इस अवस्था में रहता है, वह अवश्य ही मुक्त है।[२८]

गीता में चित्त निरोध के ऊपर बहुत बल दिया गया है, क्योंकि इन्द्रियाँ चित्त का ही अनुसरण करती हैं। अर्जुन के यह पूछने पर कि मन बहुत बलवान् है तथा इसका निग्रह बहुत दुष्कर है, श्रीकृष्ण चित्तनिरोध के उपाय बताते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य से इसका निरोध संभव है।[२९] मन अपनी चञ्चलता तथा अस्थिरता के कारण जहाँ भी विचरण करता हो, मनुष्य को चाहिए कि उसे वहाँ से खींचे और अपने वश में लाये।[३०] गीता में मनोनिग्रह के मुख्य तीन साधन बताये हैं- प्राणायाम, अभ्यास तथा वैराग्य। यही बात योगदर्शन में चित्तनिरोध के प्रसङ्ग में कही गयी है।[३१]

इन्द्रियों को बलात् विषय से हटाया जा सकता है, लेकिन इन्द्रियों के विषय से हट जाने पर भी यदि मन में विषयों का स्मरण रहता है तो वह मिथ्याचार ही है। वह किसी अर्थ में मनोनिग्रह या इन्द्रियनिग्रह नहीं है।[३२] इन्द्रियनिग्रह के लिये प्रथम मनोनिग्रह आवश्यक है। उचित रूप से मनोनिग्रह होने पर ही इन्द्रियनिग्रह होता है। अत: प्रथम साधक को प्राणायाम, अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा मन को पूरी तरह से नियन्त्रित करना चाहिए। मन के ऊपर अच्छी प्रकार नियन्त्रण होने पर मन विषयोन्मुखी नहीं होगा। मन के नियन्त्रित हो जाने पर इन्द्रियाँ स्वत: ही नियन्त्रित हो जायेंगी। इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख होने पर प्रत्याहार की सिद्धि हो जायेगी।

योगवाशिष्ठ में प्रत्याहार का स्वरूप व साधना

भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का सर्वोपरि स्थान है। यह ग्रन्थ अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का सुविस्तृत विवेचन करने वाला एक अनुपम, महान् तथा अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसकी अन्य ग्रन्थों से तुलना नहीं

---

२८. (क) स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो। प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। वही, ५/२७ (ख) यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण:। विगतेच्छाभय: क्रोधो य: सदा मुक्त एव स:।। वही, ५/२८

२९. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। वही, ६/३५

३०. यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। वही, ६/२६

३१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:। यो०सू० १/१२

३२. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते।। गीता ३/६

की जा सकती है। जीव, जगत्, ब्रह्म, माया, कर्म, फल, भोग, मन, मनोनिग्रह, मोक्ष आदि विषयों को स्पष्ट करने वाला यह ग्रन्थ अध्यात्म की अनुपम निधि है।

योगवाशिष्ठ में भी यद्यपि प्रत्याहार के विषय में गीता की ही भाँति प्रत्यक्ष एवं पारिभाषिक रूप से कुछ नहीं कहा गया है, तथापि प्रकीर्णरूप में प्रत्याहार की वह सब सामग्री उपलब्ध है, जो योगदर्शन में प्रतिपादित की गयी है। योग वशिष्ठ में भी इन्द्रियजय के विषय में चर्चा की गयी है, क्योंकि बिना इन्द्रियजय के ब्रह्म का साक्षात्कार असंभव है। बिना जीती हुई मन सहित इन्द्रियाँ शत्रु के समान हैं। इन्हें तब तक बारम्बार जीतकर परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करें, जब तक अन्तःकरण स्वयं ही परमात्मा के ध्यान में एकाग्र न हो जाये। इस प्रकार सर्वव्यापी, दिव्यस्वरूप, देवेश्वर परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।[३३]

यहाँ पर स्पष्ट रूप से इन्द्रियों के साथ-साथ मन को भी जीतने की बात कही गयी है। बिना मनोनिग्रह के इन्द्रियनिग्रह असंभव है। योगदर्शन की भाँति ही योगवाशिष्ठ में भी प्राणनिरोध को इन्द्रियनिग्रह का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है। इसी के साथ-साथ ज्ञान (परमात्मा में अनन्य भक्ति) भी चित्तनिरोध का उपाय है। प्राणनिग्रह से मनोनिग्रह संभव होता है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि चित्त का आधार यह प्राण है। प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है और चित्त के स्पन्दन से ही पदार्थों की अनुभूतियाँ होती हैं। जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह गोल आकार की रचना करने वाली गोल आकार की लहरें उत्पन्न होती हैं। चित्त का स्पन्दन प्राण-स्पन्दन के अधीन है। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य ही उपरत हो जाता है।[३४] प्राण निरोध के भी अनेक उपाय योग वशिष्ठ में प्रतिपादित किये गये हैं। उनमें से किसी भी उपाय को अपनाकर प्राण निरोध किया जा सकता है, प्राण निरोध से मनोनिग्रह तथा मनोनिग्रह से इन्द्रियनिग्रह यही प्रत्याहर का स्वरूप है।

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ सम्पादन करती है।[३५] अर्थात् कमेन्द्रियाँ भी मनोनुगामिनी हैं। मनोनिग्रह का उपाय ऊपर जहाँ प्राण निरोध बताया गया है, वहीं पर मन को विषय से हटाकर परमात्मा में लगाना तथा बार बार चिन्तन करना भी है। बारम्बार ऐसा करने से मन स्वतः ही निगृहीत होने लगता है।[३६] इस प्रकार योगवाशिष्ठ में भी प्रत्याहार का वैसा ही स्वरूप परिलक्षित होता है जैसा कि योगदर्शन में प्रतिपादित किया गया है।

---

३३. योगवाशिष्ठ, अध्याय २३ सर्ग १३

३४. योगवाशिष्ठ, अध्याय २८ सर्ग-७८

३५. योगवाशिष्ठ, अध्याय १७ सर्ग-९७

३६. योगवाशिष्ठ, अध्याय १७ सर्ग-१११

घेरण्ड-संहिता में प्रत्यहार का स्वरूप व साधना

घेरण्ड-संहिता में संक्षेप रूप में प्रत्याहर के विषय में बताया गया है, जिस विषय में मन चञ्चल हो करके विचरण करे, उसे वहीं से लौटा कर अपने मन को आत्मा के वश में करें। चाहे आदर हो गया या निरादर, पुरस्कार हो या तिरस्कार, सुनने में सुखद हो या अरुचकर इन समस्त प्रकार के वचनों से मन को हटाकर अपने वश में करें। सुगन्ध, दुर्गन्ध से मन को हटाकर आत्मा के वश में करे। मधुर, तीखा आदि रसों की ओर से मन को विमुख कर उसे आत्मा में वशीभूत करें। यही प्रत्याहार कहलाता है।[३७]

योगदर्शन में इन्द्रियों को उनके अर्थ से हटाने की बात कही गयी है, लेकिन यहाँ पर मन को विभिन्न विषयों से। मन के ऊपर निरोध होगा तो इन्द्रियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जायेंगी। इसी के साथ विभिन्न प्राणायामों की चर्चा भी घेरण्ड-संहिता में की है। प्राणायाम में मनोनिग्रह होता है, मनोनिग्रह से इन्द्रिय-निग्रह स्वतः ही फलित हो जाता है। शायद इसलिये घेरण्डसंहिताकार ने मनोनिग्रह पर ही अधिक बल दिया है।

कठोपनिषद् में भी मन को लगाम तथा इन्द्रियों को घोड़े के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[३८] जिस प्रकार घोड़े को लगाम के द्वारा वश में किया जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियों को वश में करने का एक मात्र उपाय मन है। मन यदि नियन्त्रित है तो इन्द्रियाँ स्वतः ही नियन्त्रित हो जायेंगी। इस प्रकार इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का साधन मन है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मन को प्राणायाम, अभ्यास, वैराग्य एवं परमात्मचिन्तन से वश में किया जा सकता है।

---

३७. घेरण्ड संहिता ४/१-५

३८. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।३।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।४।। कठ १.३.३.४

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०८८-९२)

बौद्ध ज्ञानमीमांसा में अनुमान के नियम

डॉ० हेमलता श्रीवास्तव[1]

धर्मकीर्ति के अनुसार प्रमाण का लक्षण है-**अविसंवादकं ज्ञानं सम्यक् ज्ञानम्**[2] - न्यायबिन्दु प्रमाणवार्तिक में भी कहा गया है-**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्**।[3] न्याय आदि के प्रमाण लक्षणों से यह भिन्न है। न्याय के अनुसार **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** तथा मीमांसा के अनुसार **'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्'** यह प्रमाण का लक्षण है। नैय्यायिक आदि का कहना है कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। जिस प्रकार छिदा (काटना) का करण पशु है और छिदा उसका फल है, जो परशु से भिन्न है, इसी प्रकार प्रमाण का फल भी प्रमाण से भिन्न होना चाहिए। अत: जब इदं किञ्चित् इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान होता है तो वहाँ चक्षु आदि इन्द्रिय करण या प्रमाण होती है तथा यह निर्विकल्पक ज्ञान (प्रमा) फल होता है। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष करण होता है तथा वह ज्ञान फल होता है। इसलिए सर्वत्र ही प्रमाण और प्रमा में भेद हुआ करता है। बौद्धन्याय के अनुसार प्रमाण और प्रमाणफल में भेद नहीं होता। बौद्धन्याय में **'अनधिगतविषयमविसंवादकं ज्ञानम्'** यह समुदित रूप से प्रमाण का लक्षण है। जब कोई ज्ञान अविसंवादि होता है, तभी उसके विषय में यह जाना जाता है कि यह अज्ञात अर्थ का बोधक है। दूसरी ओर धारावाहिक ज्ञान अविसंवादि होकर भी प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि वह अज्ञात अर्थ का बोधक नहीं होता। अत: बौद्धन्याय के अनुसार धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तु में अनुमान नहीं किया जा सकता। इससे प्रतीत होता है कि बौद्धदर्शन प्रमाण संप्लव यानी अनेक प्रमाणों द्वारा एक विषय के ग्रहण को स्वीकार नहीं करता। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का विषय अलग-अलग है, एक के क्षेत्र में दूसरा नहीं जा सकता। बौद्धन्याय इस प्रकार की प्रमाण व्यवस्था को मानता है। इसके विपरीत न्याय, वैशेषिक प्रमाण संप्लव मानते हैं, यानि एक ही वस्तु अग्नि को हम प्रत्यक्ष से देख सकते हैं, उसका धूम से अनुमान भी कर सकते हैं।[4]

इसके विपरीत बौद्धन्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। न्याय तथा वेदान्त आदि के शब्द, उपमान एवं अभाव आदिका बौद्धन्याय के अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। तथा इनके दो प्रकार के विषय हैं - स्वलक्षण ओर सामान्यलक्षण। इसमें से स्वलक्षण का प्रत्यक्ष से और सामान्य लक्षण का अनुमान

---

१. अतिथि प्रवक्ता दर्शन-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

२. न्यायबिन्दुटीका १.१

३. प्रमाणवार्तिक परिच्छेद १.३

४. न्याय भाष्य १,१.३

से ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य लक्षण का ग्रहण नहीं हो सकता और न ही अनुमान द्वारा स्वलक्षण का ग्रहण हो सकता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि वस्तु के दो रूप है असाधारण और साधारण। यहाँ वस्तु का असाधारण रूप ही सामान्य लक्षण है। इस प्रकार एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का ग्राह्य विषय नहीं हो सकता, यह मन्तव्य ही प्रमाण व्यवस्था कहा जाता है। इस प्रमाण व्यवस्था का सम्बन्ध प्रमाणों के ग्राह्य विषय से ही है, अध्यवसेय विषय से नहीं। एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का अध्यवसेय तो हो सकता है।

दिङ्नाग ने वस्तुओं के दो रूप बतलाये हैं- सामान्य और विशेष। यहाँ इन्हीं को सामान्य लक्षण तथा स्वलक्षण शब्दों द्वारा कहा गया है। जन साधारण के व्यवहार में जो वस्तु घट इत्यादि के रूप में समझी जाती है, वहाँ रूप-रंग तथा नाम आदि से युक्त वस्तु का रूप भासित होता है। घट का वह रूप सर्वघटसाधारण है, अत: वह घट का सामान्य रूप या सामान्य लक्षण है, किन्तु प्रत्येक घट वस्तु का अपना एक विलक्षण निजी रूप भी होता है, जो अन्य समस्त घटों से व्यावृत्त होता है, वही वस्तु का असाधारण रूप है, उसे ही स्वलक्षण कहते हैं। दिङ्नाग सम्प्रदाय में यही परमार्थ सत् माना गया है। दिङ्नाग ने इस परमार्थसत् वस्तु की स्थापना माध्यमिक के आपेक्षिक सत्य शून्यता का निराकरण करने के लिए की थी, जो इस परमार्थसत् वस्तु को भी आपेक्षिक मानता था। दूसरी ओर दिङ्नाग ने इसके द्वारा नितान्त बाह्यार्थवादी नैय्यायिक आदि के मत का निराकरण कर दिया।

यों तो मनुष्य का सबसे बड़ा सहारा प्रत्यक्ष ही है, किन्तु जब से न्याय ने एक शास्त्र का रूप ग्रहण किया, तब से ही अनुमान की ओर नैय्यायिकों का झुकाव अधिक रहा है। वात्स्यायन के अनुसर प्रत्यक्ष तथ आगम से ईक्षित अर्थ का अनुमान से अन्वीक्षण किया जाता है।[५] गंगेश के अनुसार तर्कप्रिय नैय्यायिक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषय को भी अनुमान से सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।[६] दर्शनशास्त्र में अनुमान के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक निकायों के विभिन्न मत हैं, अत: इन निकायों के अनुसार अनुमान के स्वरूप का विस्तृत विश्लेषण आवश्यक है।

न्याय मत के अनुसार अनुमांन केवल इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। यह किसी ऐसे लिङ्ग या साधन के ज्ञान पर निर्भर करता है, जिससे अनुमित वस्तु या साध्य का एक नियत सम्बन्ध रहता है। साधन तथा साध्य के नियत या अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान में कम से कम तीन अवयव होते हैं- पक्ष, साध्य और हेतु। उदाहरणार्थ, यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है। जो धूमवान् है वह वह्निमान् है। यहाँ पर्वत पक्ष है, वह्नि साध्य है तथा धूम साधन है।

बौद्धन्याय के अनुसार तीन रूपों से युक्त हेतु ही सद्हेतु या त्रिरूपलिङ्ग कहलाता है। लिङ्ग के इन तीन

---

५. न्यायभाष्य

६. तत्त्वचिंतामणि, भाग२, पृ० १८

रूपों का वर्णन हेतु का हेत्वाभासों से भेद दिखलाने के लिए किया गया है। इन तीन रूपों से एक या अधिक के न होने से ही कोई हेतु हेत्वाभास हो जाता है।[७] विनीतदेव के अनुसार ज्ञान शब्द इस पर बल देता है कि लिङ्ग तभी ज्ञान को उत्पन्न करता है, जब वह निश्चित रूप से जान लिया जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो अपनी सत्तामात्र से ही कार्य करा देता है।[८] धर्मोत्तर के अनुसार अनुमान का विषय कल्पित होता है, क्योंकि अनुमान एक ऐसी वस्तु का किया जाता है, जो अनुपस्थित है, जिसका साक्षात् ग्रहण नहीं किया जा सकता, उनकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है।

न्यायदर्शन में मुख्यतया तीन प्रकार से अनुमान का वर्गीकरण किया गया है। प्रयोजन की दृष्टि से अनुमान के दो प्रकार माने गये हैं:- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान किसी हेतु से किसी साध्य के ज्ञान को कहते हैं, जो अपने लिए किया जाये, परन्तु जब वाक्यों के द्वारा उसका ज्ञान दूसरों के लिए कराया जाये, तो वह परार्थानुमान हो जाता है। स्वार्थानुमान बिना किसी वाक्य के प्रयोग के लिए ही किया जाता है, परन्तु परार्थानुमान पञ्चावयवों द्वारा प्रकट किया जाता है। इसलिए इसे पञ्चावयवी भी कहते हैं, जबकि न्यायबिन्दु में कहा गया है कि परार्थानुमान त्रिरूपलिङ्ग, अन्वय, व्यतिरेक, पक्षधर्मत्व संज्ञक के उद्भूत शब्दात्मक ज्ञान है और स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है तथा अनुमेयत्व सपक्षसत्व और विपक्षासत्व संज्ञक लिङ्ग से उद्भूत होता है। द्वितीय वर्गीकरण गौतम ने किया है, जिसके अन्तर्गत अनुमान के तीन भेद हैं:-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान के अन्तर्गत ज्ञात कारण के आधार पर अज्ञात कार्य का अनुमान किया जाता है। शेषवत् अनुमान के अन्तर्गत हम ज्ञात कार्य को देखकर अज्ञात कारण का अनुमान करते हैं और दो वस्तुओं के एक साथ रहने पर एक वस्तु को देखकर दूसरी का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। तीसरा वर्गीकरण नव्य नैय्यायिकों का है। इनके अनुसार भी अनुमान तीन प्रकार का है:- केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी।

जिस अनुमान में किसी प्रकार की त्रुटि हो, वह यथार्थ अनुमान न होकर मिथ्यानुमान है। ऐसे अनुमान को अनुमानाभास कहते हैं। अनुमान के तीन अङ्ग हैं:- पक्ष, हेतु और दृष्टान्त। भ्रान्ति तीनों में उत्पन्न होती है। इसे पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास कहते हैं।

सांख्यमतानुसार व्याप्ति ज्ञान से होने वाला व्यापक का ज्ञान अनुमान है। ईश्वरकृष्ण के अनुसार लिङ्ग से लिङ्गी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[९] वाचस्पति मिश्र के अनुसार व्याप्य-व्यापक भाव और पक्षधर्मता ज्ञान से

---

७. बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग २, पृ० ४८ टिप्पणी २

८. बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग २, पृ० ४८ टिप्पणी ३

९. सांख्यकारिका

उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुमान है।[१०]

जैन मतानुसार वादिदेवसूरी ने अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद बतलाए हैं और बाद में उनके अलग-अलग लक्षण किए हैं, अत एव अनुमिति का कारण अनुमान कहलाता है। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार साध्य के अविनाभाव वाले लिङ्ग द्वारा जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह अनुमान है।[११] अकलंक के अनुसार साध्य अविनाभूतलिङ्ग के द्वारा उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान है।

प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों के अनुसार समान अधिकरण में आश्रित रहने वाले हेतु और साध्य के अधिगत सम्बन्ध नियम से साध्य अग्नि रूप असन्निकृष्ट अर्थ में जो अबाधित ज्ञान होता वही अनुमान है।

नैय्यायिकों ने इस आधार पर शबरस्वामी पर आक्षेप किया है कि आप द्वारा की गयी परिभाषा अब आप के ही अनुयायी उत्तरवर्ती मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत प्रमाण में अनधिगतार्थगन्तृ रूप लक्षण के साथ असंबद्ध है। प्रभाकर के अनुसार अनुभूति ही प्रमाण का मुख्य लक्षण है, न कि अगृहीतग्राहित्व।

वेदान्त मतानुयायी धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञाप्तिज्ञानत्व धर्म से अविछिन्न व्याप्ति ज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। उनके अनुसार अनुमान की प्रक्रिया में प्रथमतः पक्ष में हेतु के ज्ञान से महानस आदि में ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का संस्कार उद्‌बुद्ध होता है, उसके उपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती है।

अनुमान के विषय में बौद्धों का मत है कि अनुमान का विषय सामान्य है। यह सामान्य बौद्धिक प्रत्यय काल्पनिक है। हेतु से साध्य के अनुमान में साध्य का अनुमान बाह्य वस्तु का नहीं है, क्योंकि बाह्य वस्तु तो असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान की ही सत्ता मानते हैं। अतः केवल काल्पनिक सामान्यों का ही ज्ञान संभव है।

दिङ्नाग के अनुसार अविनाभावसम्बन्ध के द्वारा नानन्तरीयक का दर्शन ही अनुमान है। दिङ्नाग ने यह भी कहा है कि उपस्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से और अनुपस्थित वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। अपने ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय में उन्होंने यह भी कहा है कि ज्ञान के केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही साधन हैं और इनके दो ही वर्ग हैं:- एक विशेष तथा दूसरा सामान्य। सामान्य का अनुमान द्वारा और विशेष का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अनुमान का साधारण लक्षण दिया है।[१२] प्रमाणवार्तिक के अनुसार किसी

---

१०. सांख्यतत्त्वकौमुदी

११. साध्यविनाभावो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्।

१२. (क) तत्र स्वार्थत्रिरूपाल्लिंगाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् २/३(ख) त्रिरूपालिंगाख्यानम् परार्थानुमानम् ३/२ न्यायबिन्दुटीका

सम्बन्ध के धर्म से धर्मी के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है। दिङ्नाग के अविनाभाव का तात्पर्य है जो किसी के बिना नहीं हो सकता। लिङ्ग या हेतु अपने साध्य का अविनाभावी हुआ करता है, जैसे धूम अपने साध्य अग्नि के बिना हो ही नहीं सकता।

यह प्रतिबन्ध ही बौद्धन्याय की व्याप्ति का स्वरूप है। यह अविनाभाव सम्बन्ध कितने प्रकार का हो सकता है, इसका भी बौद्ध दर्शन में परिगणन कर दिया है, क्योंकि लिङ्ग साध्य का अविनाभावी होता है, इसलिए तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर ही कोई लिङ्ग निश्चित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त किसी आधार पर साध्य-साधन भाव या व्याप्ति नहीं बन सकती।

व्याप्ति के स्वरूप के विषय में नैय्यायिक आदि का मतभेद है। नैय्यायिक के अनुसार व्याप्ति एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसका निश्चय अव्यभिचरित साहचर्य से किया जाता है। जब कोई व्यक्ति बार-बार धूम और अग्नि का साहचर्य देखता है और कहीं भी अग्नि के बिना धूम को नहीं देखता तो धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध है, ऐसा निश्चय कर लेता है।[१३] नैय्यायिक का कथन है कि लिङ्ग के अविनाभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह शंका भी संभव है कि अग्नि के बिना ही धूम हो सकता है। इस शंका पिशाची के रहते तदुत्पत्ति से लिङ्ग का निश्चय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति के आधार पर ही हेतु का निश्चय किया जाता है। बौद्धन्याय का यह परिगणन करना युक्तियुक्त नहीं है। बौद्ध दर्शन में नैय्यायिक के विचार का खण्डन किया गया है।[१४]

नैय्यायिकों ने बौद्धों के मत का खण्डन मुख्यत: इसी आधार पर किया है कि हेतु त्रिरूप नहीं, अपितु पञ्चलक्षण होता है। व्याप्ति का आधार भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति को नहीं माना जा सकता। नैय्यायिकों के विचार में यह भी उचित नहीं है कि पहले अनुमान के दो भेद किए जायें और बाद में उसकी परिभाषा बतायी जाए।

---

१३. तर्कभाषा, पृ० ८९

१४. हेतु बिन्दु, पृ० ५४ तथा हेतुबिन्दुटीका, पृ० ४५-५०, प्रमाणवर्तिका ४, २०३

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०९३-९८)

बौद्धन्याय में अनुमान प्रमाण का स्वरूप

देवीसिंह (शोधछात्र)[१]

भारतीय दर्शन में ज्ञान-मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार बौद्धन्याय भी दो प्रमाण स्वीकार करता है- प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा गया है-**'तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रन्तम्'**[२] अर्थात् कल्पना से रहित और भ्रान्ति शून्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रतिपाद्य-विषय बौद्ध न्याय के अनुसार अनुमान प्रमाण का विवेचन करना अभीष्ट है। अत: इसमें अनुमान प्रमाण के अर्थ, पर्याय, स्वरूप एवं भेदों पर विशिष्ट दृष्टिपात किया गया है।

बौद्धों द्वारा स्वीकृत द्वितीय प्रमाण है- अनुमान, जिसका ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत विशेष महत्त्व है। चार्वाक् के अतिरिक्त सभी दार्शनिक-सम्प्रदायों ने इसकी सत्ता को स्वीकार किया है, क्योंकि इसके बिना किसी भी प्रकार का लोकव्यवहार नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त जो व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध के आधार पर होने वाला अग्न्यादि परोक्षज्ञान, दूसरों के मन में स्थित उनके मनोभावों का ज्ञान और किसी वस्तु के दिखाई न देने पर तत्सम्बन्धी अभाव का ज्ञान आदि सभी इस प्रकार के ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा ही होते हैं।

अनुमान शब्द का अर्थ

अनुमान शब्द अनु उपसर्गपूर्वक मा धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। अनु का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है- ज्ञान का साधन, अत: जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान शब्द का प्रयोग दर्शन में दो अर्थों में होता है- एक तो अनुमान प्रमाण (साधन के अर्थ में) दूसरे अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान; (अनुमिति) के अर्थ में जैसे-**'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'**[३] में अनुमान शब्द ज्ञान के साधन के अर्थ में आया है, किन्तु अथ **'तत्त्वपूर्वकं त्रिविधमनुमानम्'** में अनुमान शब्द अनुमिति के अर्थ में प्रयोग किया गया है। मुख्यत: यह शब्द ज्ञान के साधन के अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ की दृष्टि से अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति है-**अनुमीयतेऽनेनेतिऽनुमानम्**[४] अर्थात् जिसके द्वारा अनुमिति की

---

१. संस्कृत, पालि एवं प्राकृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

२. न्या० बि०, १/४

३. (क) सं० श० को०, पृ० ६५ (ख) सं० हि० को०, पृ० ४०

४. त० भा०, पृ० ७८

जाती है, वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। न्यायभाष्यकार के अनुसार **प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्**[५] अर्थात् प्रत्यक्ष आगम के पश्चात् प्रवृत्त होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। दूसरे शब्दों में - **मितेन लिङ्गेन अर्थास्यानु पश्चात् मानमनुमानम्** अर्थात् प्रत्यक्ष से ज्ञात हुए लिङ्ग के द्वारा विषय का बाद में उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है।

बौद्धेतर-दर्शनों में अनुमान का लक्षण

सांख्यदर्शन में अनुमान को लिङ्ग-लिङ्गी ज्ञानपूर्वक स्वीकार किया गया है।[६] वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट करते हुए कहा है-'व्याप्य-व्यापकभाव (लिङ्ग-लिङ्गीभाव)[७] तथा पक्षधर्मतापूर्वक ज्ञान अनुमान प्रमाण होता है।[८] तर्कभाषाकार का कथन है-'**लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्**'[९] इसका अर्थ है लिङ्ग (हेतु) का परामर्श (तृतीय ज्ञान) ही अनुमान प्रमाण कहलाता है अर्थात् लिङ्ग या हेतु के तीन प्रकार के ज्ञान होते हैं, उनमें से तृतीय ज्ञान ही अनुमिति का साधन होता है। लिङ्ग के तृतीय ज्ञान के बिना अनुमिति होना सम्भव नहीं है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं।[१०] मानमेयोदयाकार कहते हैं- '**व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञान-मनुमानम्, यथा पर्वते धूमवत्त्वदर्शनादग्निमत्त्वज्ञानम्**'[११] अर्थात् व्याप्य दर्शन-जनित असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान को अनुमान कहा जाता है, जैसे- पर्वत में धूमवत्त्व के दर्शन से अग्निमत्त्व का ज्ञान होना। जैनमत में जो साध्य का निश्चयात्मक और अभ्रान्त ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष के समान यथार्थ होने के कारण अनुमान कहलाता है।[१२] वेदान्तदर्शन में '**अनुमितिकरणमनुमानम्**'[१३] यह अनुमान का सामान्य लक्षण करने के बाद परिभाषाकार ने विशेष लक्षण इस प्रकार दिया है। '**अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या**'[१४] अर्थात् व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अविच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। इस प्रकार यदि अनुमान प्रमाण के इन लक्षणों

---

५. न्या० भा०, १/१/१

६. वही, १/१/३

७. तल्लिंगलिंगिपूर्वकम्।

८. तद्व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यं लक्षितम्। सां० त० कौ, का० ५

९. त० भा०, पृ० ७८

१०. अनुमितिकरणमनुमानम्। त० सं०, पृ० १७

११. मा० मे०, पृ० ३१

१२. साध्याविनाभुवो लिङ्गगतसाध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तद् अभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्। न्याया० सू० ५

१३. वे० परि०, पृ० १६९

१४. वही, पृ० १६१

पर विचार किया जाये तो समझ में आता है कि अनुमिति का असाधारण कारण ही अनुमान होता है।

बौद्धन्याय में अनुमान का लक्षण

बौद्धाचार्य वसुबन्धु के अनुसार अनुमान का लक्षण है-'**नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्**'[१५] अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, वह नान्तरीयकार्थ होता है, उसका दर्शन उस (सम्बन्ध) को जानने के लिए अनुमान प्रमाण कहलाता है। धूम अग्नि के बिना नहीं होता, अतः धूम अग्नि का नान्तरीयक (अविनाभावी) है। इस अविनाभावी सम्बन्ध का ज्ञाता, जब कहीं धूम को देखता है तो इससे अग्नि की अनुमिति कर लेता है, यही अनुमान प्रमाण है।[१६]

दिङ्नाग के अनुसार- '**त्रिरूपाल्लिंगतोऽर्थदृक् अनुमानम्**' अर्थात् त्रिरूपसम्पन्न लिङ्ग द्वारा विषय का ज्ञान अनुमान कहलाता है।[१७] इस लक्षण में प्रयुक्त हुए त्रैरूप्य शब्द का अर्थ है- वही सद्हेतु, जो पक्ष और सपक्ष में विद्यमान हो, परन्तु विपक्ष में न हो, जैसे- पर्वत अग्नि वाला है, धूम होने से, यहाँ धूम अग्नि का नान्तरीयकार्थ या अविनाभावी है, वह पर्वत रूप पक्ष में विद्यमान है और पाकशालारूप सपक्ष में भी है, किन्तु सरोवर रूप विपक्ष में विद्यमान नहीं है। न्यायप्रवेश में उपलब्ध अनुमान की परिभाषा भी दिङ्नाग की परिभाषा से समानता रखती है, जो इस प्रकार है-'**अनुमानं लिङ्गार्थदर्शनम्**'[१८] अर्थात् लिङ्ग से जब अर्थ (विषय) का दर्शन (ज्ञान) होता है तो वह अनुमान है। वह लिङ्ग तीन रूपों से युक्त होता है।[१९]

धर्मकीर्ति ने हेतुबिन्दु में अनुमान प्रमाण का साक्षात् रूप से कोई लक्षण न देकर केवल इतना ही कहा है-'**परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनुमानाश्रयत्वादेव तद्व्युत्पादनार्थं संक्षेपतः इदामारभ्यते**'[२०] अर्थात् परोक्षार्थ की सिद्धि अनुमानाश्रित होने के कारण ही उसके विशिष्ट प्रतिपादन के लिए संक्षेप रूप से यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। इस पर टीका करते हुए अर्चट लिखते हैं-'**परोक्षार्थप्रतिपत्तौ गुणभूतमनुमानम्**'[२१] अर्थात् परोक्ष अर्थ को प्रतिपति (ज्ञान में) जो प्रमाण मुख्य होता है, वह अनुमान कहलाता है। न्यायबिन्दु में भी अनुमान का स्पष्टतः कोई लक्षण

---

१५. (क) न्या० वा०, पृ० ५४ (ख) न्या० वा० ता०, पृ० १८८

१६. बौ० द० वि०, पृ० (क) प्र० समु०, अनु० २ (ख) हि० ई.० लॉ०, पृ० २८० (ग) बु० आ०, भाग- १, पृ० २३६

१७. प्र०समु०अनु०२, हि०इ० लॉ० पृ०२८०; बु०आ० भाग-१ पृ०२३६

१८. न्या० प्र०, पृ० ७, पं० १४

१९. लिङ्गपुनस्त्रिरूपमुक्तम् । वही

२०. हे० बि०, पृ० ५२, पं० ५

२१. हे० बि० टी०, पृ० ३, पं० ९-१०

प्रस्तुत नहीं किया गया है, लेकिन टीकाकार धर्मोत्तर ने एक स्थल पर कहा है- **लिङ्गग्रहणसम्बन्ध-स्मरणस्य पश्चात् मानम् अनुमानम्**[२२] अर्थात् लिङ्ग (धूम आदि) के ग्रहण तथा प्रतिबन्ध (अविनाभावी सम्बन्ध या व्याप्ति) के स्मरण के पश्चात् होने वाला ज्ञान प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि पर्वतादि पक्ष के धूमादि का ग्रहण हो जाने पर तथा साध्य अग्नि का साधन धूमादि के साथ सम्बन्ध (व्याप्ति का ग्रहण) हो जाने पर अनुमान की प्रवृत्ति होती है। इन दोनों के होने पर ही पर्वत में अग्नि की अनुमिति हो पाती है। इसलिए इस ज्ञान को पश्चात् कालवर्ती (अनु) कहा गया है।[२३] अनुमान सम्बन्धी इसी मन्तव्य को धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में भी कहा है। जिसका तात्पर्य है कि जो ज्ञान (अनुभूति) दो सम्बन्धियों में से एक धर्म के द्वारा धर्मी (पक्ष) के विषय में होता है, वही अनुमान है और परोक्ष अर्थ के ज्ञान के लिये ऐकान्तिक रूप से वही साधन या प्रमाण है।[२४]

अनुमान के भेद (स्वार्थानुमान, परार्थानुमान):

नैय्यायिकों ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये हैं- (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट।[२५] सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने अनुमान के भेदों का नामोल्लेख न करते हुए केवल **'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्'**[२६] कहा है, परन्तु कौमुदीकार ने भेदों का उल्लेख करते हुए प्रथमतः अनुमान के दो भेद किये हैं। वीत अवीत, तदनन्तर वीत के दो भेद- पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट और अवीत (शेषवत्) प्रदर्शित कर तीन प्रकार के अनुमानों का विवेचन किया है।[२७] मीमांसा-दर्शन में भी तीन प्रकार का अनुमान दर्शाया गया है- (१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी, (३) केवलव्यतिरेकी।[२८] तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने वेदान्तपरिभाषाकार ने तथा जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अनुमान के दो भेद स्वीकार किये हैं।[२९]

---

२२. न्या० बि०टी०, पृ० ३०, पं० ३

२३. गृहीते पक्षधर्मे स्मृते च साध्यसाधनसम्बन्धेऽनुमानं प्रवर्तते इति पश्चात् कालभाव्युच्यते। वही, पृ० ३-५

२४. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते। सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्।। प्र०वा०, २/६२

२५. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च। न्या० सू०, १/१/५

२६. सां ० का०, कारिकांश-५

२७. तत्सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति। तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम्- वीतमवीतं च। सा० त० कौ०, पृ० ४४

२८. तच्चानुमानं त्रिविधम् अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। मा० मे०, पृ० ५९

२९. (क) तच्चानुमानं द्विविधम्, स्वार्थं परार्थं चेति। त० भा०, पृ० ९१ (ख) तच्चानुमानं स्वार्थ-परार्थ-भेदेन द्विविधिम्। वे० परि०, पृ० १६६ (ग) तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च। प्र० मी०, पृ० ३९, पं० ४

बौद्धन्याय में अनुमानके दो भेद हैं- स्वार्थनुमान और परार्थानुमान।[३०] मौलिक रूप से द्विविध अनुमान का यह विचार दिङ्नाग का है और उन्हीं के बाद के आचार्यों ने इसे ग्रहण किया है।[३१] कुमारिल के टीकाकार सुचरितमिश्र ने अनुमान के भेद के सम्बन्ध में एक कारिका किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धृत की है, जो इस प्रकार है-

अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्।

परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम्।।[३२]

अर्थात् अनुमान दो प्रकार का है। त्रिरूपलिङ्ग से विषय का ज्ञान स्वार्थनुमान कहलाता है, लेकिन प्रमाता द्वारा स्वयं ज्ञात अर्थ को दूसरे के प्रति प्रकाशित करना परार्थानुमान कहलाता है। श्री अयंकर और एस०सी० विद्याभूषण आदि विद्वानों के अनुसार यह कारिका दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चय से उद्धृत है।[३३] धर्मकीर्ति ने भी स्वार्थानुमान की परिभाषा इस प्रकार की है-**'तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तद् अनुमानम्'**[३४] अर्थात् त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय के विषय में जो ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है। परार्थानुमान की परिषाभा इस प्रकार है-**'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्'**[३५] जो त्रिरूपलिङ्ग का कथन करना है, वह परार्थानुमान है। इन दोनों अनुमानों में से स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक और परार्थानुमान शब्दात्मक होता है।[३६] क्योंकि स्वार्थानुमान के अन्तर्गत प्रमाता स्वयं अपने प्रयत्न से धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करता है, किन्तु परार्थानुमान में प्रमाता किसी दूसरे के प्रति स्वगृहीत ज्ञान को अनुमान वाक्य की सहायता से (शब्दात्मक) प्रदान करता है।[३७] इसी बात को अर्चट ने अपनी टीका में स्वीकार किया है।[३८]

परार्थानुमान के वाक्यावयव

अनुमान वाक्य के अवयव कितने हैं, इस विषय में भारतीय दर्शन के विद्वानों में मतभेद हैं। नैय्यायिक

---

३०. अनुमानं द्विधा। स्वार्थ परार्थं च। न्या० बि०, २/१,२

३१. B.P. m M.S.V., p. 83

३२. मी० श्लो० वा० पर कारिका (iii), पृ० ३७, पं० १७-१९

३३. (i) H.R.R. Iyengar, Kumarila and Dinnaga, I.H.Q., 1927, p. 603-606 (ii) S.C. Vidya Bhusanana HIL, p. 280-282

३४. न्या० बि०, २.३

३५. वही, ३.१

३६. परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्।।

३७. स्वस्मायिदं स्वार्यम्। येन स्वयं प्रतिपद्यते स्वार्थम्। परस्मायिदं परार्थम्। येन परं प्रतिपादयति परार्थम्। वही, पृ०९८

३८. यदि नाम स्वार्थानुमानकाले स्वयमेव साध्यं प्रतिपद्यते तद् युक्तमेव, लिङ्गस्यापि तत्र स्वयमेव प्रतिपत्तेः। परार्थानुमाने तु परतो यथा लिङ्गः प्रत्येति तथा प्रमेयमपि परत एव प्रत्येतव्यम्। हे० बि०टी०, पृ० ८५, पं० १८-२१

पञ्चावयव वाला अनुमानवाक्य स्वीकार करते हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन।[३९] किन्तु भाट्टमीमासंक केवल तीन ही अवयव स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार या तो प्रथम दो को छोड़कर अन्तिम तीन हैं या अन्तिम दो को छोड़ कर प्रथम तीन होने चाहिए।[४०] दिङ्नाग ने भी अनुमान के तीन अवयव स्वीकार करते हुए कहा है-**'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपद्यते'**[४१] अर्थात् पक्ष (प्रतिज्ञा) हेतु और दृष्टान्त के कथन द्वारा वह अर्थ जो प्रश्नकर्त्ता को अज्ञात था, ज्ञात हो जाता है। धर्मकीर्ति ने इन तीनों में से पक्ष को निकाल दिया है। उन्हें साधन वाक्य के रूप में हेतु दृष्टान्त दो ही अवयव अभिमत हैं।[४२] उनकी यह भी मान्यता है कि जो व्यक्ति व्युत्पन्न है उसे दृष्टान्त की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह केवल हेतु-प्रदर्शन से ही साध्य निश्चय करने में समर्थ है।[४३]

इस प्रकार अनुमान-वाक्य के विषय में चार भिन्न मत उपलब्ध होते हैं। कुछ नैय्यायिक आदि ने पांच अवयव माने हैं, कुछ मीमांसक आदि ने तीन ही अवयव स्वीकार किये हैं। धर्मकीर्ति ने अव्युत्पन्न जन के लिए दो (हेतु, दृष्टान्त) और व्युत्पन्न जन के लिये केवल हेतु की आवश्यकता समझी है।

निष्कर्ष

त्रिरूपलिङ्ग द्वारा साध्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है। स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार का है। त्रैरूप्यलिङ्ग से प्रमाता परोक्ष अर्थ का जो स्वयं अपने लिये अनुमान करता है, वह स्वार्थनुमान कहलाता है। इसीलिए इसे ज्ञानात्मक कहा गया है और जब प्रमाता परोक्ष अर्थ का ज्ञान दूसरों कों अनुमानवाक्यावयवों की सहायता से कराता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है, जो शब्दात्मक होता है। न्यायदर्शन द्वारा स्वीकृत पञ्च साधनावयवों में से दिङ्नाग ने केवल तीन (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त) ही अवयवों को माना है। उनमें से भी धर्मकीर्ति ने केवल दो (हेतु और दृष्टान्त) को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रबुद्ध व्यक्ति के लिये दृष्टान्त की भी आवश्यकता नहीं, उसके लिये तो केवल हेतु नामक साधनावयव ही पर्याप्त है।

---

३९. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा:। न्या सू०, १/१/३२

४०. Vijaya Rani, Buddhist Philosophy in Mimamsa Sloka Varttika, p. 84

४१. न्या० प्र०, पृ० १

४२. द्वयोरप्यऽनयोः प्रयोगयोः नावश्यं पक्षनिर्देशः। न्या० बि०, ३/३४

४३. तद्भावहेतु भावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।। प्र० वा०, ३/२७

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०९९-१०९)

योग-साधना और कबीर

डॉ० मृदुल जोशी[१]

योगश्चित्तिवृत्ति निरोध:। तदा स्वरूपेऽवस्थानम्,[२] चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग हैं। एकाग्रता के घनीभूत क्षणों में चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अपनें स्वरूप में अवस्थित हो जाती हैं। अपने स्वरूप की प्राप्ति ही प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य भी है। जिसे दूसरे शब्दों मे आत्मसाक्षात्कार भी कहा गया है। यही पुरुषार्थ-चतुष्टय का अन्तिम चरण मोक्ष अथवा मुक्ति भी है। विभिन्न यौगिक प्रक्रियाएँ मानव की बिखरी हुई ऊर्जा को केन्द्रीभूत करती हुईं उसके वास्तविक लक्ष्य से सायुज्य करती हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में **'आध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'** कहकर योग को हर्ष-शोक से मुक्त होने का कारण बताया है। योग शिखोपनिषद् में भी मोक्ष हेतु योग से उत्तम कोई मार्ग नहीं बताया गया हैं।[३] आत्मसाक्षात्कार या परमात्मप्राप्ति का भी यही प्रमुख साधन हैं।[४] मुण्डकोपनिषद् में भी इसी लक्ष्य का समर्थन किया गया हैं।[५] [६], ऊर्जा का केन्द्रीकरण मन्त्रयोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, राजयोग- अनके प्रकार से संभव है। ये विभिन्न साधना-पद्धतियाँ अपने विविध चरणों में विविध चमत्कारी अनुभूतियाँ भी कराती हैं। विभिन्न ग्रन्थों में योग के विविध प्रकार वर्णित हैं।

'योगराजोपनिषद् में मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा' कहकर चार प्रकार के योग व योग के ४ अङ्ग बताये गए हैं-**'आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिक:'** अर्थात् आसन, प्राणसंरोध, ध्यान एवं समाधि सभी योग में है। योगतत्त्वोपनिषद् में भी **'मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक:।[७]'** ये चार प्रकार ही माने गये हैं। योगशिखोपनिषद् के अनुसार योग का सामान्य रूप इस प्रकार हैं-**'प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्'** प्राणापान को समान करना योग चतुष्टय कहा गया है। वराहोपनिषद् के अन्तिम अध्याय में लय, मन्त्र एवं

---

१. प्रवक्ता हिन्दी-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. योग-दर्शन, पतञ्जलि, १.१.२

३. तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षद:, १/५३

४. योगाभ्यासेन..........पश्यति तत्पदम् १/७५-७६

५. जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् २/१४ अर्थात् सैकड़ों जन्मान्तरों की मिथ्या संसार-वासना का अभ्यास कभी योग के चिराभ्यास के बिना नष्ट नहीं हो सकता।

६. ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व: ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान: ३/१-८ अर्थात् ज्ञान से विशुद्ध हुआ वह प्राणी ध्यान करता हुआ उस निष्कल पद से साक्षात्कार करता है।

७. २/२६

हठयोग की चर्चा है। अन्त में कुण्डलिनी योग पर सविस्तार विचार है-'**लयमन्त्रहठयोगा योगो ह्यष्टांगसंयुत:**' लय, मन्त्र एवं हठयोग हैं, इन सभी के अष्टाङ्ग हैं।

रेवतीरमण पाण्डेय ने विविध ग्रन्थों का अनुशीलन कर २२ प्रकार के योगों की चर्चा की हैं।[८] उपर्युक्त योग के प्रकारों में से ४ प्रकार के योग प्रमुख हैं- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।

मन्त्रयोग

मन्त्रयोग में '**सोऽहम्**',[९ १०] प्रणव[११], प्रणवसहित गायत्री-मन्त्र[१२] जपने का विधान है। सोऽहम् इत्यादि

---

८. क. अध्यात्मयोग (कठोपनिषद् (१/२/१२) ख. ध्यानयोग (श्वेताश्वतर उपनिषद् (१/३) ग. निदिध्यासन (बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/५, ४/५/६) घ. योग (तैत्तरीय उपनिषद्) २/४/१) ङ. अभ्यास योग (वराहोपनिषद् ४/४६, (त्रिशिखा-ब्राह्मणोपनिषद् २/१२) च. ज्ञानयोग (त्रिशिखा-ब्राह्मणोपनिषद्, २/२३) छ. कर्मयोग (त्रिशिखा-ब्राह्मणोपनिषद्, २/२३) ज. मन्त्रयोग (वराहोपनिषद् ५/१०, योगराजोपनिषद् १, योगतत्त्वोपनिषद् १९) झ. लययोग (वराहोपनिषद् ५/१०, योगराजोपनिषद् १, योगतत्त्वोपनिषद् १९) ञ. हठयोग (वराहोपनिषद् ५/१०, योगराजोपनिषद् १, योग तत्त्वोपनिषद् १९) ट. राजयोग (योगराजोपनिषद् १, योग तत्त्वोपनिषद् १९, योगशिखोपनिषद् १/३७) ठ. सम्पुटयोग (वराहोपनिषद् ५/४५) ड. विभूतियोग (बृहज्जाबालोपनिषद् ३/९) ढ. तारकयोग (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ३/१/६, अद्वयतारकोपनिषद् ५) ण. अमनस्कयोग (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/३/९, अद्वयतारकोपनिषद् १०) त. क्रियायोग (त्रिशिखाब्राह्मणोपनिषद्, २/२४) थ. प्राणापानसमायोग (योगशिखोपनिषद् २/२४) द. वेधकत्रय योग (वराहोपनिषद् ६२/६५) ध. मनोयोग (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १) न. उत्तरयोग (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १) प. सांख्ययोग (वराहोपनिषद् ३/३७) फ. महायोग (योगशिखोपनिषद् १/१३०) - समग्रयोग, प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय, कलाप्रकाशन, ३३-३३ ए-१ न्यू साकेत कॉलोनी, बी०एच०यू० वाराणसी पृ० ३५-३६

९. हकारेण बर्हिर्याति सकारेण विशेत् पुन:। हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक-विंशति:। एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा। अस्या: संकल्पमात्रेण सर्वपापै: प्रयुच्यते। अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जप:। अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति। (योगचूडामणि, ३१-३४)

१०. हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन:। हंस हंसेति मन्त्रोऽयंसर्वजीवैश्च जायते।। गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जप:। प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि।। (योगशिखोपनिषद्, १/१३०-१३२) अर्थात् मन्त्रयोग से सुषुम्ना का दर्शन होता है। सुषुम्ना दर्शन से चित्त स्थिर होता है और चित्त स्थिर होने से तत्त्वसाक्षात्कार होता है, यही मन्त्रयोग का फल है।

११. तस्य वाचक: प्रणव:। तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगसूत्र, १/२७-२८

मन्त्र जप करते-करते चित्तवृत्ति का निरोध होता है, यही मन्त्रयोग का फल है। मन्त्रयोग का सीधा सम्बन्ध भक्ति से है। मन को मननीय शक्ति प्रदान करके जप के द्वारा समस्त भयों का विनाश करके पूर्ण रक्षा करने वाले शब्दों को मन्त्र कहा गया है। मन्त्र दो शब्दों **'मन्+त्र'** के योग से बना है। **'मन्'** शब्द से मन को एकाग्र करना और **'त्र'** शब्द से त्राण (रक्षा) करना है। जो जप से अभीष्ट फल प्रदान करे, वे मन्त्र कहे जाते हैं। मन्त्र त्रितत्त्वज हैं। शिव, शक्ति और आत्मा, इनके समुदित रूप को ही मन्त्र की संज्ञा दी जाती है।[१३]

लययोग

हठयोग, प्रदीपिका में लययोग को लक्ष्य कर लिखा गया हे-

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः,

मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः।[१४]

इन्द्रियों का स्वामी मन, मन का प्राण, प्राण का स्वामी मनोलय है। मनोलय नाद के श्रवण से उत्पन्न होता है। **योगतत्त्वोपनिषद्** में वर्णित है-

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्

स एव लययोगः स्यात्.......[१५]

लय को और भी अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करते हुए कहा गया है-

लयो विषयविस्मृतिः, निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते, विलयेदित्यर्थः।[१६]

जब साधक ध्यानावस्था में चलते, खाते, सोते, बैठते हर समय ईश्वर के ध्यान में लीन रहता है, तो उसे लययोग कहते हैं। **मन और चित्त का लय करना ही वास्तव में लय योग है।** लय योग पातञ्जल योग के

---

१२. (क) योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्तिमान्। (मनुस्मृति २/८२) जो पुरुष आलस्य रहित होकर प्रणव सहित गायत्री मन्त्र का जप तीन वर्ष पर्यन्त नियम से करता है, वह वायु की तरह स्वतन्त्र गति वाला होता है और परब्रह्म को प्राप्त करता है। (ख) जप्यैनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नाम संशयः (मनुस्मृति, २/८७)

१३. डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह, संत काव्य में योग का स्वरूप, पु० १९२

१४. ४/२९

१५. २३-२४

१६. हठयोग प्रदीपिका, ४/३४/९०/८४

अष्टाङ्ग योग में धारणा के अर्न्तगत आता है। इसे कुण्डलिनी योग, षट्चक्र भेदन एवं भूत शुद्धि के नाम से भी पुकारा जाता है।[१७] वस्तुतः पिण्ड ज्ञान से ब्रह्माण्ड ज्ञान हो सकता है, क्योंकि **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**। योग शास्त्रों में पुरुष का स्थान सहस्रार और प्रकृति का स्थान मूलाधार में बताया गया है। योग-साधना के द्वारा प्रकृति रूपी सोई हुई महाशक्ति को जगाकर पुरुष के पास सहस्रार में ले जाना ही लय योग है।[१८] हठयोग प्रदीपिका में मन को मृग और नाद को जाल की उपमा से सम्बोधित किया गया है। नाद मन को स्थिर करने तथा उसकी चञ्चलता को रोकता है।[१९] सिद्धासन, पद्मासन या मुक्तासन में बैठकर साधक शाम्भवी मुद्रा में दाहिने कान से नाद को सुनते हुए मन को उसी में लगा दे तो लय की अवस्था आती है।[२०] लय योग के ध्यान का नाम बिन्दु ध्यान व समाधि का नाम महालय है।[२१]

शास्त्रों में **हठयोग** साधारणतः प्राण-निरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। **सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति** में 'ह' का अर्थ सूर्य बताया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं-

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचन्द्रसमोयोगात् हठयोगो निगद्यते।

ब्रह्मानन्द के मत में सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु और चन्द्र से अपान वायु से है। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु को निरोध करना ही योग है। द्वितीय व्याख्यानुसार सूर्य इड़ा नाड़ी है और चन्द्र पिंगला।[२२] इड़ा व पिंगला को रोककर सुषुम्ना नाड़ी में प्राण वायु संचरित करने को हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को हठसिद्धि भी कहा गया है।[२३] योगशिखोपनिषद् में कहा गया है-

हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥

---

१७. डॉ० रामेश्वर प्रसाद सिंह, संत काव्य में योग का स्वरूप, पु० २३१

१८. श्री एकान्तवासी महात्मा, योगचतुष्टय- मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, एवं राजयोग, कल्याण योग तत्त्वांक ६५, पृ० १३७

१९. हठयोग प्रदीपिका, टीका, ४/९४ पृ० १९६

२०. वही पृ० १८७

२१. श्री एकान्तवासी महात्मा, योगचतुष्टय- मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, एवं राजयोग, कल्याण योग तत्त्वांक ६५, पृ० १३७-१३८

२२. हठयोगप्रदीपिका ३/१५

२३. प्राणतोषिणी, पृ० ८३५

हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदीपसमुद्भवम्।

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसे **प्राणापानौ समो कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ** कहकर नासिका के भीतर ही दोनों स्वर सम होकर सुषुम्ना से जिस अवस्था में प्राण चले उसे हठयोग कहा है।

वस्तुतः प्राण द्वारा मन का निरोध हठयोग है। प्राणतोषिणी में तो यहाँ तक कहा है कि-

हठाज्ज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।

अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।[२४]

हठयोग में षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि ये सात अङ्ग माने गये हैं। षट्क्रम से शरीर का शोधन, आसनों से दृढ़ता, मुद्रा से स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से लाघव, ध्यान से आत्मा का प्रत्याक्षानुभव व समाधि से मुक्ति लाभ होता है। षट्कर्म में धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति आते हैं। हठयोग में ८४ आसन और दस मुद्राएँ बताई गई हैं, और ८ प्रकार के प्राणायाम हैं प्राणायाम द्वारा नाड़ी शोधन होने पर सूक्ष्म शब्द यथा समुद्र, मेघ, भेरी, भ्रमर, वंशी, वीणा इत्यादि का स्वर सुनाई देने लगता है।[२५]

सब साधनाओं का राजा होने के कारण योग का एक प्रकार राजयोग भी कहा गया है। हठयोग, लययोग और मन्त्रयोग को राजयोग की भूमिका मात्र माना गया है। हठयोग-प्रदीपिका में समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्त्व, शून्या-शून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्ति, सहजा और तूरिया आदि राजयोग के पर्यायवाचक बताये गये हैं।[२६] एक विचार यह भी है कि राजयोग की सिद्धि हठयोग के बिना तथा हठयोग की सिद्धि राजयोग के बिना नहीं हो सकती। अतः योगी को सद्गुरु की शिक्षा के अनुसार हठयोग में प्रवृत्त होना चाहिए।[२७] राजयोग मन के निरोध का योग है। राजयोग के अनुसार मन बहुत शक्तिशाली है, बस उसे एकाग्र करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासनाएँ और अभाव मानव के अन्दर हैं,

---

२४. वही, पृ० ८३५

२५. आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झरसंभवाः। मध्ये मर्दलशंखोत्थाः घंटाकाहलजास्तथा। अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमर-निस्वनः। इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः। मकरन्द पिबन् भृङ्गो गन्धं नोपक्षते यथा। नादासक्तं तथा चित्तं विषयात्र कांक्षाति। गोरक्ष सिद्वान्त संग्रह में अवधूत गीता, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज सरस्वती भवन, १९२५, पृ० १८

२६. हठयोगप्रदीपिका ४/३-४ पृ० १५१

२७. शिवसंहिता ५/२१७, पृ० १५०-१५१

उसी प्रकार उसके भीतर ही उन अभावों के मोचन की शक्ति भी है।[२८] शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। मन को वश में करने के लिए दैहिक साधनाओं का सहारा लिया जाता है। मन की आन्तरिक अवस्था, उसके अन्दर प्रकाश की किरणों के समान बिखरी शक्तियों को राजयोग विद्या से जाना जा सकता है। हमारे शरीर की सारी शक्तियों का सम्बन्ध आहार से है। इसीलिए घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि साधक को योगाभ्यास के काल में मिताहार करना चाहिए।[२९] स्वामी विवेकानन्द भी साधना के समय भोजन पर विशेष ध्यान देने की बात कहते हैं।[३०] राजयोग को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद् राजयोग:।[३१] तथा **रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृत:** (योगशिखोपनिषद्) अर्थात् रज एवं रेतस् के योग से राजयोग होता है। जो मन्त्र एवं प्राण दोनों को आत्मा में लीन करा दे, वे राजयोगी सबसे श्रेष्ठ योगी माने गए हैं।[३२]

योगी कबीर अपनी आध्यात्मिक साधना में इनमें से अधिकांश पद्धतियों का प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। उनकी बानियों (साखी, सबद, रमैनी) में वर्णित इन विभिन्न यौगिक प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

कबीर की साहित्य-साधना में इन चतुर्विध योग का अद्भुत समन्वय है। वैसे तो कबीर कष्टदायी साधना के पक्ष में न रहते हुए **आँख न मूँदो, कान न रुँधो, तनिक कष्ट नहिं धारो। साधो सहज समाधि भली-** कहते हुए सहज साधना पर विश्वास रखते थे, लेकिन उनकी बानियों में यत्र-तत्र हठयोग सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। उनकी कृतियों पर दृष्टिपात डालते हुए सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें हठयोग का विशद ज्ञान था। उनके साहित्य में **कुण्डलिनी योग**, **नाड़ी-ज्ञान**, **नाद-बिन्दुयोग**, **नादानुसन्धान**, **प्राणायाम**, **अनहद नाद** आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है।

कबीर ने शरीर में ७२ हजार नाड़ियों को स्वीकारते हुए इसे **बाहत्तर अधारी** की संज्ञा दी है।

इला प्युँगला भावी कीन्ही, ब्रहम अगनि परजा ली।
ससिहर सूर द्वार दस मूदै, लागी जोग जुग ताली।
मन मतवाला पीवै राम राम रस, इजा कहु न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।

---

२८. स्वामी विवेकानन्द, राजयोग, पृ० २

२९. घेरण्ड-संहिता, ५/२१

३०. स्वामी विवेकानन्द, राजयोग, पृ० २३

३१. योगशिखोपनिषद् १/१३

३२. मन: प्राणद्वययुजस्ते तु श्रेष्ठतरा: स्मृता:। बोधसार

पंच जाने सो संग कटि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत-नागिनीं जागी।
सहज सुनि में मिन रस चारवाह, सतगुरु पै सुधि पाई।[३३]

कबीर कहते हैं इड़ा पिंगला नाड़ियों की मैंने भट्ठी बनायी और उसमें ब्रह्माग्नि प्रज्वलित की चन्द्रमा और सूर्य (जो क्रमशः इड़ा और पिंगला में अधिष्ठाता हैं, द्वारा शरीर में दस द्वार बन्द किए। मन त्रिकुटी (भूमध्य) में मोहित हो गयी। गंगा में उलट कर पानी बह गया अर्थात् चैतन्य प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गया। इसके प्रभाव से ब्रह्मरन्ध से अमृत धार गिरने लगी। प्रेम प्याला पीने में कुंडलिनी रूपी नागिन जागृत हो गयी। जिन्होंने सहज शून्य में पहुँचकर यह रस पी लिया, उन्हें सद्गुरू की कृपा से आत्मबोध हो गया। उपर्युक्त पद में कबीर इड़ा-पिंगला के माध्यम से प्राण का अपान व अपान वायु को प्राण में हवन कर सुषुम्ना में संचारित करते हुए उद्बोधन द्वारा मूलाधार स्थित कुण्डलिनी के क्रुद्ध होकर सहस्रार में पहुंचने की प्रक्रिया को दर्शा रहे हैं और आत्मबोध रूपी रस को चखने की अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

सहस्रार को कबीर गंगा मंडल की संज्ञा भी देते हैं और मूलबन्ध लगाकर सहस्रार में प्राण पहुँचाने की बात भी कहते हैं-

अवधू गगन मंडल धर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।
मूल बाँधि सुर गगन समाँनाँ, सुषमन पोतन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगणी जागी।
मनवा जादू दरीबै बैटा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाँही, सबद अनाहद बागा।[३४]

बंकनालि अर्थात् सुषुम्ना के माध्यम से ही सहस्रार दुर्ग तक पहुँचा जाता है, अनहद या अनाहद नाद की चर्चा कबीर ने अनेक स्थलों पर भी की है-

सुंनि मंडल में मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।[३५]

कबीर को मुद्राओं और अवस्थाओं का अच्छा ज्ञान है। उनकी रचनाओं में उन्मनि अवस्था का अनेकशः वर्णन हुआ है।

---

३३. कबीर ग्रन्थावली, पद-७४ राम किशोर शर्मा, लोक भारती, १५ए, महात्मा गाँधी मार्ग, पृ० ३५४

३४. वही, कबीर ग्रन्थावली, पद ७०, पृ० ३५१

३५. पद ९२, पृ० ३५३

अवधू मेरा मनु मतिवारा।

उन्मनि चढ़ा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।[३६]

हठ योगी वस्तुतः संसार से न्यारा होता है। कबीर ने हठयोगी साधक को बार-बार अवधू की संज्ञा से अभिहित किया है। वह निरति की मुद्रा धारण करता है और सुरति की शृंगी ग्रहण करता है। अनाहद नाद की धारा को अखण्डित रखता है अर्थात् निरन्तर ओ३म् या राम की ध्वनि का श्रवण करता है। वह शून्य या ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है, दुनियाँ का अवलोकन नहीं करता है। वह शून्य मण्डल में पहुँचकर चेतना की चौकी पर अधिष्ठित रहता है। शून्य मण्डल में पहुँचकर वह इस आसन की स्थिति को नहीं छोड़ता है। सहस्रार से झरने वाले अमृत रस का निरन्तर पान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से तो गुदड़ी में लिपटा रहता है। उसका अन्तःकरण दर्पण की तरह शुद्ध और निर्मल होता है। इक्कीस हजार छः सौ धागे अर्थात् श्वासों को निश्चल के नाके में पिरोता है, श्वासों को कुंभक प्राणायाम के अन्तर्गत संचरित करता है। वह ब्रह्माग्नि में काया के गुणों को जलाता है और त्रिकुटी के संगम (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मिलन बिन्दु) पर ध्यान लगाकर जागृत रहता है। कबीर कहते हैं कि वही योगेश्वर है, जो सहज भाव से शून्य में लय (ध्यान) लगाता है।

बसै गगन मैं दूनीं न देखै, चेतनि चौकी बैठा।

चढ़ि अकास आसण नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा।

परगट कंथा माहैं जोगी, दिल मैं द्रपन जोवै।

सहँस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै।।

ब्रहम अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।

कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।।[३७]

हठयोग साधना के सिद्धान्तानुसार कबीर प्राणायाम को आवश्यक मानते हुए कुम्भक पर अधिक बल देते हैं। कबीर ने षट्चक्रों का वर्णन भी किया है और ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र को गगन, गगन मंडल, शून्य, भँवर गफा और कुँआ आदि नामों से अभिहित किया है। कबीर ने राजयोग की साधना को मनोनिरोध कहा है। मन का निरोध किये बिना नाद श्रवण, योग एवं ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। राजयोग को कबीर ने निरति तथा अनुभव पद भी कहा है। कबीर ने इसीलिए मन को वश में करने पर बल दिया है।

मैमन्ता मन मारि रे, घट ही माहैं घेरि।

जबहीं चाले पीठ दें, अंकुश दै दै फेरि।[३८]

---

३६. पद ७२, पृ० ३५२

३७. पद ६९, पृष्ठ ३५०

सांसारिक विषयों के स्वाद में मस्त इस मन को इस शरीर में ही घेरकर मार देता है अर्थात् वश में कर लो। परमात्मा से विमुख होकर यह जब सांसारिक विषयों की ओर चलने की चेष्टा करे तो ज्ञान और वैराग्य रूपी अंकुश द्वारा परमात्मा की ओर उन्मुख कर दे।

मनवां तौं अधर बस्या, बहुतक झींणा होइ।

आलोकत सचु पाइया, कबहूं न न्यारा सोइ।।[३९]

मेरा मन ब्रहा रंध्र(अधर, शून्य) में निवास कर रहा है। यह बहुत सूक्ष्म हो गया है। प्रभु के दर्शन मात्र से उसे सुख मिल गया। वह उस परमपद की स्थिति से कभी विलग नहीं होता।

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नहिं होइ।

मन उनमन उस अंड ज्यूँ, अनल अकासां जोइ।।[४०]

मन को परमात्मा में लगा देने से ही उस मन अर्थात् उन्मन की प्राप्ति होती है। मन उन्मन होने से उस स्थिति को प्राप्त हो जाता है, जिस स्थिति में अनल पक्षी का अंडा रहता है। वह आकाश में ही रहता है और वहीं उसमें से बच्चा निकलकर उड़ने लगता है। ऊर्ध्वमुखी मन पुनः सांसारिक धरातल पर नहीं आता।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीति।

कहै कबीर हरि पाइए। मन ही की परतीति।।[४१]

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धन कीजिये।

काया कजरी बन अहै, मन कुंजर मैमंत।

अंकुश ज्ञान रतन है, खेवट बिरला संत।।[४२]

शरीर कजली वन है, मन मस्त हाथी, ज्ञान का रत्न अंकुश है और एकाध संत पीलवान है। मन के हाथी को ज्ञान के द्वारा वश में लाया जा सकता है।

कबीर ने यह भी कहा है कि यदि में अपने शरीर को धनुष की तरह कस लूँ। पाँच यमों अथवा तत्त्वों को बाण बना लूँ। और उन बाणों से मृगरूपी मन को मार डालूँ, तभी मेरी साधना पूर्ण होगी। मुझे राजयोग की प्राप्ति होगी, अन्यथा मेरी साधना अधूरी है।

---

३८. मन कौ अङ्ग, २२, पृ० १९६

३९. मन को अङ्ग, पृ० १९५

४०. मन को अङ्ग, पृ० १९४

४१. मन कौ अङ्ग, पृ० १९४

४२. मन कौ अङ्ग, पृ० १९३

काया कसूँ कमांण ज्यूं। पंचतत्व करि बाँण।
मारौं तौ मन मिरग कौं। नहीं तौ मिथ्या जाण।[४३]

कबीर ने लय को नादानुसंधान के नाम से भी अभिहित किया है। कबीर ने प्राणायाम अभ्यास को लय योग के लिए अनिवार्य माना है। कबीर ने कहा है कि प्राणायाम के द्वारा कुम्भक करने पर अनाहद शब्द सुनाई पड़ता है। उनके अनुसार साधक इक्कीस हजार छः सो श्वासों रूपी धागों को निश्चल होकर कुम्भक प्राणायाम के नाके में (सुई के छिद्र में) पिरोता रहता है। प्राणवायु को सूक्ष्म करके कुम्भक द्वारा विषय वासनाओं को भस्म करता है और त्रिकुटी या त्रिवेणी में पहुँचकर परम सत्य का साक्षात्कार करता है।

सहँस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै।
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।[४४]

कबीर ने योगसाधना में मन्त्र योग के महत्त्व को भी स्वीकार किया है और माना है कि मन्त्र में असीम शक्ति छिपी रहती है। संतों ने मन्त्रयोग को अजपा जाप का भी नाम दिया है। जब-जब कबीर राम नाम जपने की बात कहते हैं, तब-तब वे मानों मन्त्रजप को ही महत्ता दे रहे हैं।

कबीर कहता जात हूं, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ।।[४५]
तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।[४६]
कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।[४७]
केसौं कहि कहि कूकिये, नाँ सोइयै असरार।
राति दिवस कै कूकणौं(मत) कबहूं लगै पुकार।।[४८]

---

४३. कबीर ग्रन्थावली, (सटीक) राम किशोर शर्मा, मन कौ अङ्ग, ३३, पृ० १९८, लोकभारती, १५ ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद

४४. पद सं० ९८, पृ० ३५०

४५. सुमिरण कौ अङ्ग, पृ० ११९

४६. सुमिरण कौ अङ्ग, पृ० १२१

४७. सुमिरण कौ अङ्ग, पृ० १२२

४८. सुमिरण कौ अङ्ग, पृ० १२४

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।

हरिसागर जिनि बीसरै, छीजर देखि अनंत॥ [४९]

जीभ से राम के नाम का मन्त्र जाप और मन से राम का ध्यान करना चाहिए। राम सागर की तरह अगाध और विस्तृत है। उसमें आनन्द की जल राशि लहरा रही है। अन्य देवी-देवता छोटे-छोटे ताल-तलैया की तरह हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की योग साधना में मन्त्र योग, लययोग, राजयोग, हठयोग सभी की उपस्थिति है। वस्तुतः कबीर की साधना एकांगी नहीं हैं। ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में जो मार्ग उन्हें उचित लगा, उसे मुक्त हृदय से अङ्गीकार किया।

४९. सुमिरण कौ अङ्ग, पृ० १२८

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०११०-११६)

वाल्मीकि-रामायण में गुरुतत्त्व

डॉ० वीरेन्द्र कुमार अलंकार[1]
डॉ० सुषमा अलंकार[2]

भारतीय वाङ्मय में 'गुरु' शब्द अत्यन्त गरिमापूर्ण है। उपनिषद् काल तक 'आचार्य' शब्द का व्यवहार अधिक प्रसिद्ध था। बालक का दूसरा जन्म आचार्य के विद्यागर्भ से ही होता था और वह 'द्विज' कहलाता था। वैदिक आचार्यों की यह कल्पना कितनी विलक्षण है कि आज जब आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध की चर्चा होती है तो आधुनिक शिक्षाविद् गुरु और शिष्य में पिता-पुत्र, अभिभावक, मित्र, दिङ्निर्देशक या दाता ग्रहीता का सम्बन्ध मानते हैं। अब तो यह सम्बन्ध व्यावसायिक हो गया है, किन्तु वैदिक आचार्य इसे माँ और गर्भस्थ शिशु का सम्बन्ध मानते हैं- **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**[3] अर्थात् आचार्य अपने शिष्य को मानों अपने गर्भ में धारण कर उसकी सम्पूर्ण सुरक्षा का दायित्व ले लेता है। आचार्य के इसी विद्यागर्भ से बालक जन्म लेकर द्विज कहलाता है।

वैदिक ऋषियों की यह कल्पना अपूर्व है। उपनिषद् काल का यह आचार्य महाभारत काल में 'गुरु' शब्द से विख्यात हो गया। महाभारत काल में कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी मिलते हैं, जो गुरु की गरिमा को कहीं-कहीं प्रश्नचिह्नित करते हैं, किन्तु रामायण में वहीं गुरु शब्द अधिक गरिमा का सूचक है। रामायण में यह गुरुतत्त्व ही कही आचार्यत्व और ऋषितत्त्व के रूप में दिखाई देता है। रामायण कालीन अनेक ऋषि गुरु के रूप में हैं। रामायण की यह विशेषता है कि इस काव्य का आरम्भ ही दो ऋषियों (नारद व वाल्मीकि) के संवाद से हुआ है-

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिमुर्निपुंगवम्।।[4]

गुरु शब्द तथा अनिवार्य तत्त्व

गुरु शब्द रामायण में विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचरण और चरित्र की शुद्धता तपस्विता,

---

१. रीडर संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़,

२. प्रवक्ता, एम. एम. कालेज, मुलाना अम्बाला.

३. अर्थवेद ११/५/३

४. वाल्मीकि रामायण १/१!१ (प्रकाशक-इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, १९३०)

शारीरिक, वाचिक व मानसिक शक्ति ये सब गुरुता के अनिवार्य तत्त्व हैं। गुरु शब्द की निरुक्ति देखिए-

गृणाति उपदिशति वेदादि शास्त्राणि-इति गुरुः।

वेदादि शास्त्रों का उपदेश देने वाला गुरु है।

गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिरिति गुरुः।

देव गन्धर्व, मनुष्यादि के द्वारा जिसकी स्तुति की जाती है, वह गुरु है।

गुरु की गुरुता आचार्यत्व तक सीमित नहीं है, बल्कि माता, पिता को भी गुरु कहा गया है। स्मृति में उपाध्याय, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, महीपति, (मामा, श्वशुर, रक्षा करने वाला, मातामह, पितामह आयु में बड़ा मित्र या रिश्तेदार तथा पितृव्य- इन्हें पांच वर्गों में रखा गया है। प्रथम वर्ग में उपाध्याय है। द्वितीय वर्ग में अपना परिवार है (पिता और ज्येष्ठ भ्राता), तृतीय वर्ग में राजा है, चतुर्थ वर्ग में श्वशुर कुल (मामा, श्वशुर, मातामह और पितामह) है तथा पंचम वर्ग में अन्य समबन्धी (ज्येष्ठ बन्धु तथा पितृव्य) आते हैं-

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामह-पितामहौ।
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पंचैते गुरवः समृताः॥[५]

रामायण में 'गुरु' शब्द कई स्थलों पर उपलब्ध है। स्वयं भगवान् वाल्मीकि भरद्वाज के गुरु हैं-

एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना।
प्रायच्छत मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो गुरोः॥[६]

वाल्मीकि ने मुख्य अर्थ में माता, पिता और आचार्य को गुरु कहा है-

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव॥[७]

माता-पिता जन्मदाता होने के कारण तथा आचार्य प्रज्ञादाता होने के कारण गुरु है-

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते॥[८]

यह वसिष्ठ का राम के प्रति वचन है। वसिष्ठ राजपुरोहित हैं, किन्तु वे दशरथ के आचार्य व गुरु हैं और

---

५. इसका मूल सन्दर्भ अज्ञात है।

६. वही १/२/७

७. वही २/१११/२

८. वही २/१११/३

अब राम के भी गुरु हैं। इसलिए तुम्हें मेरे वचन/आज्ञा का पालन करना ही होगा, अन्यथा तुम्हें सद्गति प्राप्त नहीं हो सकती–

स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैन परंतप।

मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम्॥[९]

वसिष्ठ अब 'गुरु' की गरिमा राम को समझाते हैं कि किसी का भी वचन भले ही टाला जा सके। पर गुरु का वचन सदा ही पालनीय है। अतः तुम अपनी माता के वचन या इच्छा का अभिघात करना कभी न करना, क्योंकि वह तुम्हारी गुरु है। पिता की आज्ञा भी गुरु होने से पालनीय है और अब मैं (वसिष्ठ) भी गुरु हूँ, इसलिए उपर्युक्त उपदेश का पालन भी तुम्हारा धर्म है। वसिष्ठ का यह उपदेश राम अपने अनुज भरत को सुनाते हैं।[१०] इसलिए राम की यह प्रतिज्ञा है कि यथाशक्ति, उपयुक्त संसाधनों से मैं अपने जनक दशरथ की आज्ञा को मिथ्या नहीं होने दूँगा–

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।

आज्ञापयन् मां यत्तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति॥[११]

यह सुनकर भरत भी यह सोचने लगे कि यदि गुरु (पिता) को सुख प्रदान करना धर्म है, तो मेरा धर्म भी अपने गुरु (ज्येष्ठ भ्राता राम) को सुख प्रदान करना ही है, फिर मैं कैसे इन्हें वन में भटकने के लिए छोड़ दूँ। वहाँ राम और भरत का जो संवाद है, वह मानवीय भावों के उदात्ततम रूप का उदाहरण है।[१२] भले ही चन्द्रमा से लक्ष्मी और हिमालय से हिम दूर हो जाए तथा समुद्र अपने तट को छोड़ दे, पर राम गुरु–आज्ञा को नहीं छोड़ सकता–

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।

अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥[१३]

कैकेयी माता होने से गुरु है, इसलिए राम कहते हैं कि–उन्होंने जिस किसी भी कारण से यह किया, किन्तु हे भरत! तुम इसे अपने मन में मत रखना–

कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।

---

९. वही २/१११/४

१०. द्र०–वही, २/१११/५–८

११. वही २/१११/११

१२. द्र०–वही २/१११–११३

१३. वही २/११२/१८

न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।[१४]

माता कैकेयी के प्रति रोष न करना तथा उनकी रक्षा करना '**मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।**'[१५]

गुरुत्व का दायित्व

अपने अर्थ विस्तार में गुरु शब्द से माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, आचार्य आदि का ग्रहण भले ही दिखाई दे, किन्तु मुख्य गुरुत्व '**आचार्य**' के ही आश्रित था। आचार्य के समक्ष माता-पिता आदि का गुरुत्व गौण हो जाता था। रामायणयुग में गुरु का दायित्व '**ऋषि**' निभाते थे। महाभारतयुग में यह दायित्व ऋषियों के पास नहीं था, पर रामायण में वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे अनेक ऐसे आचार्य ऋषि थे, जो अपना विद्यावंश चलाते थे। आश्रम में ये गुरु ही माता, पिता और आचार्य थे। जन्मदात्री माता, जन्म में हेतु भूत होकर रक्षा करने वाला पिता और विद्या देने वाला आचार्य कहलाता है, पर जो इन तीनों के दायित्व का निर्वाह करता है, वह '**गुरु**' है। इसीलिए आचार्य को माता कहा गया है। उसी की विद्यायोनि से दूसरा जन्म लेकर शिष्य द्विज कहा जाता है।

रामायण में अनेक ऋषियों का उल्लेख हुआ है, जिनमें वसिष्ठ (१/२२) विश्वामित्र (१/१९) गोतम (१/४८) शतानन्द (१/५१), चूलो (१/३३), भृगु (७/५१), भारद्वाज (२/५४), शरभंग (३/५), धर्मभृत् (३/११), सुतीक्ष्ण (३/११), अगस्त्य (३/११) मतंग (४-२२) निशाकर (४/६०) काल, (७/१०३) विश्रवा (४/५८) कण्डु (४/४८) और दुर्वासा (७/२०५) प्रमुख हैं। ये ऋषि प्रायः सभी गुरु भी थे तथा इनके आश्रम थे। जिनमें विद्यादान की परम्परा थी। अगस्त्य और विश्वामित्र शस्त्र और शास्त्र दोनों ही प्रकार की शिक्षा देते थे। स्वयं वाल्मीकि भी महान् गुरु हैं, भरद्वाज उनका शिष्य है। लव और कुश भी उनके शिष्य हैं तथा शिष्यों के प्रति उनकी पितृवत्-बुद्धि है। तभी तो वाल्मीकि उन्हें कहते हैं कि तुम रामकथा का गान करो। जब कोई पूछे कि तुम किसके पुत्र हो, तो कह देना वाल्मीकि के पुत्र हैं।

यदि पृच्छेत् स काकुत्स्थो युवां कस्येति दारकौ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम्॥[१६]

इस प्रकार रामायण में माता, पिता और आचार्य सभी गुरु हैं। पुनरपि आचार्य में मुख्यतः और माता पिता में गौण व्यवहार हुआ है। रामायणयुगीन गुरु प्रायः ऋषि हैं तथा वे पारदृश्वा होने के साथ-साथ लोक से भी जुडे हुए हैं, वे शास्त्र के साथ-साथ विद्या के भी पूर्ण पण्डित हैं।

गुरुतत्त्व में ब्राह्मबल का प्राधान्य-रामायण काल के ऋषियों में अद्भुत ब्राह्मबल है। वे राजमुखापेक्षी,

---

१४. वही २/११२/१९
१५. वही २/११२/२७

१६. वही ७/९३/१२

दीन न होकर नि:स्वार्थ होकर तेजस्विता से राजकुलों को भी आदेश देते हैं। राम, लक्ष्मण को दशरथ से मांगना विश्वामित्र के लिए दीनतापूर्ण स्थिति नहीं हैं, बल्कि वे इसमें हेतु देते हैं और राजा की कुछ आनाकानी पर फटकारने में भी नहीं चूकते। तुरन्त वसिष्ठ आकर विश्वामित्र का समर्थन करते हैं और दशरथ को अवाक् होना पड़ता है। इन ऋषियों की याचना में न स्वार्थ है और न ही संकीर्णता। वे प्राय: भूत और भविष्य के भी द्रष्टा हैं। दर्शन की भाषा में कहें तो इन्हें योग प्रत्यक्ष हो चुका है। तभी तो ये दूसरों के कर्मविपाक को भी जानते हैं और उन्हें वे यथावसर कह भी देते हैं जिन्हे शाप और वरदान के माध्यम से कवि ने काव्यमाला में ग्रथित किया है। महर्षि वाल्मीकि स्वयं एक परिपूर्ण गुरु हैं तथा त्रिकालज्ञ हैं, तभी तो बिलखती सीता के विषय में शिष्यों द्वारा सूचना पाने पर वे योगदृष्टि से तुरन्त जान लेते हैं कि यह 'सीता' ही है।

स्नुषा दशरथस्य त्वं रामस्य महिषी प्रिया।
जनकस्य सुता राज्ञः स्वागतं ते पतिप्रिये।।
आयान्ती चासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम्।।
तव चैव महाभागे विदितं मम तत्त्वत:।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते।।[१७]

इस प्रकार रामायण में गुरु के नाम पर अन्धविश्वास या अन्धपरम्परा-दिखाई नहीं देती, बल्कि रामायण का 'गुरु' दूर द्रष्टा आचारवान्, नि:स्वार्थ, ब्रह्मबली, विद्यावान् और तपस्वी है, जो अपने शिष्य को मानो अपने गर्भ में धारण करके उसकी सर्वाङ्गीण सुरक्षा का दायित्व लेता है तथा शिष्य की विद्या पूर्ण होने पर ही उसे अपने विद्यागर्भ से पुन: जन्म दे कर उसे द्विज बनाता है।

गुरु आप्त प्रमाण के रूप में

गुरु शिष्य के लिए आप्त पुरुष है। गुरु के वचनों की अवहेलना रामायण में अकल्पनीय है। राम और लक्ष्मण के लिए विश्वामित्र पूर्ण आप्त हैं। 'त्रिशंकु' के मन में विचार उठा कि मैं यजन करके सशरीर स्वर्ग प्राप्त करूँगा। यज्ञ के निमित्त त्रिशंकु वसिष्ठ के पास गए,[१८] किन्तु वसिष्ठ ने कहा- यह असम्भव है। तब त्रिशंकु ने वसिष्ठ वचनों की अवलेहना की ओर वे तप में निरत वसिष्ठ पुत्रों के पास गये।[१९] जब वसिष्ठ के पुत्रों (शिष्यों) को पूरी बात ज्ञात हुई तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और इसी बात पर 'त्रिशंकु' को शाप दिया कि तुमने सत्यवादी

---

१७. वही ७/४९/७-९

१८. वही १/५७/११-१२

१९. वही १/५७/१५-२०

(आप्त) गुरु पर विश्वास ने करके उनका अपमान किया है, इसलिए तुम्हें चाण्डालत्व प्राप्त हो।[२०] इस प्रकार गुरु के वचनों पर अविश्वास विनाश का कारण है, यह इस प्रसंग से ध्वनित होता है कि वसिष्ठ के शिष्य पूर्णत: वसिष्ठमय ओर विश्वामित्र के शिष्य पूर्णत: विश्वामित्रमय हो चुके हैं। गुरु शिष्य के लिए विद्यादान ही नहीं करते, बल्कि शिष्यों के प्रत्येक पक्ष में गुरुवचन ही परम प्रमाण है।

गुरुत्त्व में औदार्य तत्त्व

रामायण में तीन गुरुओं की विशिष्ट चर्चा है। वाल्मीकि, वसिष्ठ और विश्वामित्र। इनके आश्रमों में न पक्षपात है और न ही संकीर्णता। वाल्मीकि मुनि जहाँ काव्यप्रतिभा के धनी हैं, वहीं शस्त्र और शास्त्र में भी प्रकाण्ड पण्डित हैं। वे भले ही दशरथ के मित्र हैं, पर वे कभी निजी कार्य के लिए उनसे मिलने नहीं आते। 'सीता' के निर्वासन का प्रसङ्ग मानो उनकी अपनी पीड़ा है। लव, कुश की शिक्षा पूर्ण होने पर जब वे राम से मिलते हैं, तो वे इतने संवेदनशील हो उठते हैं कि पाठक भावविह्वल हुए बिना नहीं रह सकता। वे सीता की पवित्रता में अपनी सारी तपस्या की दुहाई देते हुए कहते हैं कि यदि वैदेही में एक दोष भी हो, तो मुझे मेरी सम्पूर्ण तपस्या का फल न मिले-

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं च किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि॥[२१]

वाल्मीकि मुनि की यह उदारता विलक्षण है कि वे लव कुश के गुरु हैं, किन्तु सीता उनके सान्निध्य में रही है और वे सीता के चरित्र को जानते हैं, पर वनवासी होते हुए भी तटस्थ नहीं रहते, बल्कि अपापा मैथिली के समर्थन में स्वयं ही आश्रम से उठकर आ जाते हैं और अपनी तपश्चर्या का फल न लेने की बात करते हैं। रामायणकालीन गुरु की इतनी उदारता कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दिखाई दे। वाल्मीकि के इस आचरण में गुरुतत्त्व की सम्पूर्ण व्याख्या हो जाती है।

वसिष्ठ और विश्वामित्र के द्वन्द्व के माध्यम से कवि ने अन्ततः क्षात्रबल की अपेक्षा ब्राह्मबल की प्रभुता दिखाई है, किन्तु इस द्वन्द्व में दोनों आचार्यों में 'गुरुत्व' के दर्शन होते हैं। दोनों गुरु अपने-अपने शिष्यों के पूर्ण गुरु हैं। वसिष्ठ के आश्रम में रहने वाले शिष्यों का कोई नामकरण कवि ने नहीं दिया है, बल्कि उन्हें वसिष्ठ के पुत्र कहा है, वे सभी वासिष्ठ हैं। यही स्थिति विश्वामित्र के आश्रम की है। वसिष्ठ के सहस्र शिष्य व उनके सहस्र

---

२०. वही १/५८/२-९

२१. वही ७/९६/१९-२०

पुत्र हैं। आश्रम में पुत्र और शिष्य शब्द पर्यायवाची हो गए हैं। ये शिष्य विद्यायोनि सम्बन्ध से पुत्र ही हैं।

शुन:शेप और विश्वामित्र का कथाप्रसङ्ग भी उदारता का उदाहरण है। शुन:शेप विश्वामित्र को कहते हैं कि भगवन्, माता-पिता भाई बन्धु मेरा कोई नहीं है, अब आप ही मेरी रक्षा करें। विश्वामित्र शरणागत शुन:शेप को अपना पुत्र (शिष्य) बना लेते हैं और उसकी रक्षा के लिए पूर्ण संकल्प करते हैं।[२२]

ये गुरु जिस वन प्रदेश में रहते हैं, उसके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं। वृक्षों को पुत्रवत् समझते हैं। इसलिए वृक्षों का विनाश उन्हें सहन नहीं है। मतंग ऋषि उद्घोष करते हैं कि-

न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम्।
तेऽपि वा यदि तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम्।।
वनेऽस्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षिते।
पत्रांकुर विनाशाय फलमूलाभवाय च।।[२३]

उपसंहार

रामायण में 'गुरु' आर्षदृष्टि रखते हैं। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे जहाँ ज्ञान और तपस्या की साक्षात् मूर्ति हैं, वहीं शस्त्रास्त्र विद्या के भी पण्डित हैं। वे समाज और प्रकृति के प्रति पूर्ण जागरूक हैं। समाज में फैलने वाली कुरीतियों से वे राजा और प्रजा को सजग रखते हैं। वसिष्ठ और विश्वामित्र का संघर्ष वस्तुत: दो व्यक्तियों का संघर्ष न होकर दो विचारधाराओं का द्वन्द्व है और अन्तत: इसका समाधान क्षात्रबल और ब्राह्मबल के समन्वय द्वारा होता है। मानवीय दुर्बलताओं के कुछ उदाहरण भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। रामायण में गुरु और शिष्य एक रूप हो गये हैं। चरित्र की शुद्धता, नि:स्वार्थता, तपस्विता, शारीरिक, वाचिक व मानसिक, पवित्रता, विद्यावत्ता, ब्राह्मबल और उज्ज्वल उदारता ही रामायण में प्रतिपादित गुरुतत्त्व हैं। अपने गुह्य ज्ञान से समाज और राष्ट्र को समुन्नत करना ही वास्तविक 'गुरुत्व' है।।

---

२२. द्र० वही १/६१ व ६२

२३. वही ४/११/५६-५७

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०११७-१२०)

रसस्य प्रत्येयता-प्रतिपादकस्थले काव्यप्रकाशस्याधुनिक-व्याख्यातॄणां प्रमादः

डा० विजयपाल शास्त्री[1]

काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे रसस्वरूप-निरूपण-प्रकरणे भरतसूत्र-विवरणपरम् अभिनवगुप्तमतं स्वीयया संक्षेपवत्या शैल्या प्रस्तुवन्नाचार्यमम्मटस्तत्राभिनवगुप्तेन दर्शितां रसस्यालौकिकतामित्थं प्रतिपादयति-

स च न कार्यो विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यांमन्यत् क्व दृष्टिमिति चेत्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्र-पर्यवसितपरिमितेतर-योगिसंवेदनविलक्षणस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् इति।

अत्र प्रत्येयोऽप्यभिधीतामिति रसस्य प्रत्येयत्वप्रतिपादिका पंक्तिर्नवीनैर्व्याख्याकारैरन्यथैव व्याख्यायते। अत्राभिनवभारतीमूलको मम्मटस्याभिप्रायस्त्वित्थमस्ति लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्यो विलक्षणम्, ताटस्थ्याबबोशालिमितयोगिज्ञानाद् विलक्षणम्, वेद्यसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनाच्च विलक्षणं रसस्य यल्लोकोत्तरं स्वसंवेदनं तस्य गोचर इति स प्रत्येयोऽप्यभिधीयतामिति।

परन्तु प्रायेण सर्व आधुनिका व्याख्यातारः लौकिकप्रत्यक्षादि इत्यस्य स्थाने छेदं कृत्वा प्रमाणपदं चाग्रिमेण योजयित्वा मूलग्रन्थाभिप्रायविरुद्धमित्थं व्याख्यान्ति लौकिकप्रत्यक्षादिविलक्षणं प्रमाणताटस्थ्यावबोध-शालिमितयोगिज्ञानविलक्षणम्......इत्यादि।

व्याख्यानमिदमभिनवभारती विरुद्धं काव्यप्रकाशाभिप्रायविपरीतं चास्तीति अत्रोद्‌ध्रियमाणाया अभिनवभारत्या आलोके स्वयमेवावलोकयन्तु विद्वांसः-

'न च सा चर्वणा प्राङ् मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्चय विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादि-विघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्यास्फुटत्वं विषयावेशवैवश्येन च सौन्दर्यविरहात्।

अत्रु तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवात् न विषयवेशवैवश्यम् स्वात्मा नु प्रवेशात् परगतत्वनियममाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वम्। तद्विभावादिसाधरण्यवशसम्प्रबुद्धोचितरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां

१. प्रवाचकः, राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थानम्, जयपुर परिसरः, त्रिवेणी नगर, जयपुर (राजस्थान)

सम्भवः इत्यवोचाम बहुशः। अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्।[२]

पूर्वनिर्दिष्टायाः काव्यप्रकाश-पङ्क्तेरुपजीव्यभूतामिमामभिनवभारतीमदृष्ट्वा वा गजनिमीलिकयावधीर्य वा कृतमुपरिनिर्दिष्टमाधुनिकव्याख्यातॄणां व्याख्यानं सम्प्रति सर्वत्र पठनपाठने प्रचलितं दृश्यते।

अस्मिन् स्थले एतादृशप्रामादिकव्याख्यानकर्तृषु बालबोधिनीकारो वामनझलकीकरमहाभागः प्रमुखोऽस्ति। वमनाचार्यस्य व्याख्यानमित्थमस्ति- नन्वेवमपि ज्ञाप्य इति व्यवहारः कथमित्यत आह लौकिकेति। लौकिकं यत प्रत्यक्षादिज्ञानम्, यच्च प्रमाणताटस्थ्येन प्रमाणौदासीन्येन अवबोधः ज्ञानं तच्छालिनां तद्वतां मितयोगिनाम् अपक्वयोगिनां युञ्जानपदवाच्यानां ध्यानजन्यं ज्ञानम्, यदपि च वेद्यान्तरस्य ज्ञेयान्तरस्य लौकिकविषयस्य संस्पर्शेन रहितं सम्बन्धेन रहितं स्वरूपमात्रविषयकं परिमितेतरयोगिनां पक्वयोगिनां संवेदनं ज्ञानम्, एतत्रितयविलक्षणम् अलौकिकविभावादिमत्वेन विसदृशम्, अत एव च लोकोत्तरं यत्स्वात्मकं संवेदनं तस्य गोचर विषय इत्यर्थः। अत्र झलकीकरमहाभागस्य व्याख्याने समस्तपदस्य विच्छेदोऽस्थाने विहित इति द्वितीयं ज्ञानमन्यथैव व्याख्यातमभूत्। इत्थमस्थाने पदच्छेद एवात्र प्रमादनिमित्तं जातः।

वस्तुतोऽत्र पदच्छेद एवं करणीय लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणेति एकः, ताटस्थ्यावबोधशलिमितयोगिज्ञानेति द्वितीयः, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं विलक्षणपदं च प्रत्येकमन्ते स्थापनात्- लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणविलक्षणं ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानविलक्षणम् इत्यादिरूपेण सङ्गतिर्भवति। एवं प्रथमं रत्यादिज्ञानं लौकिक-प्रत्यक्षादिप्रमाणकं भवति। द्वितीयं ताटस्थ्येन विषयानावेशेन मितयोगिना ध्यानद्वारा तटस्थतया क्रियमाणं भवति। तृतीयं च यत् परिमितेतरयोगिसंवेदनमस्ति तत्र रत्यादिज्ञानमेव नास्ति। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[३] इत्युक्तदिशा परमयोगिन आत्मस्वरूपसंवेदनातिरिक्तज्ञानाभावात्। इत्थं रससंवेदनमेतेभ्यः त्रिभ्योऽपि विलक्षणमुक्तमिति निर्भ्रान्तमभिनवभारत्यावगम्यते।

मन्येऽयं प्रमादोऽस्थाने पदच्छेदरूपोऽभिनवभारत्या उपेक्षया सञ्जातः। अस्मिन् प्रमादे सति द्वितीयज्ञानस्य स्वरूपमन्यथैव जातम्। अत्र द्वितीयज्ञाने बालबोधिनीकारेण यत् प्रमाणताटथ्यं प्रतिपादितं तत्रैवाभिप्रेतमभिनवगुप्तस्य मम्मटस्य च प्रत्युत ताटस्थ्येन ज्ञातृज्ञेययोर्भेदेन ध्यानदशायां विषयानावेशेन यद् योगिज्ञानं भवति, तदेवाभिप्रेतम्। एवं सत्येव मितयोगिज्ञानेन लब्धे रत्यादाविव ताटस्थ्येन लब्धे रत्यादौ ताटस्थ्यहेतुकोऽस्फुटत्वदोषो योऽभिनवगुप्तेन दर्शितः स सङ्गतो भवति, नान्यथा।

इत्थं मूलग्रन्थविरुद्धमेव वामनाचार्यस्येदं व्याख्यानमतः संशोधनमर्हति। काव्यप्रकाशस्याधुनिका हिन्दीव्याख्याकाराः प्रायेण वामझलकीकरमहाभागस्य व्याख्यानमेवानुसरन्ति। अतः सम्प्रति पठनपाठने बाहुल्येन

---

२. अभिनवभारती, नाट्यशास्त्रम्- अध्यायः ६

३. योगदर्शनम् १.३

प्रचलितासु हिन्दीटीकासु अयं प्रमादो दृश्यते। तद्यथा- आचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणि-प्रणीतायां काव्यप्रकाश-दीपिकायां हिन्दीव्याख्यायाञ्च।[४] आचार्य श्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतायां व्याख्यायाम्।[५] पारसनाथ-द्विवेदिप्रणीतायां काव्यप्रकाश-व्याख्यायाञ्च॥

कालदृष्ट्या ये मम्मटस्य निकटस्थाः प्राचीनाः काव्यप्रकाशस्य व्याख्यातारो रुय्यक-सोमेश्वर-माणिक्यचन्द्रप्रभृतयः सन्ति, तेषां टीकास्वयं प्रमादो न दृश्यते। ते खल्वभिनवभारतीसंवादिनीमेव व्याख्यां कुर्वन्ति। तद्यथा काव्यप्रकाशसङ्केतनाम्नी रुय्यकव्याख्या- **'लौकिकानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि.....। परिमितयोगिनां युञ्जानसञ्ज्ञानां ज्ञानानि ताटस्थ्येन वस्त्ववगमयन्ति। तटस्थस्य विषयानावेशेन प्रवृत्तिः'** इति। तथा च काव्यप्रकाशसङ्केतः सोमेश्वरस्य-**'स च लौकिकप्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधात् तथा तटस्थपरसंवित्तिशालियोगिज्ञानाद् विशिष्यते'** इति। एतादृश एव च भावो माणिक्यचन्द्रकृते काव्यप्रकाशसङ्केते दृश्यते-**'लौकिकेति। लौकिकप्रमाणेभ्यो विलक्षणम्। चमत्कारित्वात्। ताटस्थ्येन स्वात्मानं विना यः परस्य बोधस्तेन शालते यन्मितयोगिज्ञानं तस्माद्विलक्षणम्। ताटस्थ्यप्रतीत्यादित्वेनरत्यादिबोधस्य निषिद्धत्वात्'** इति।

इतः परमपि पञ्चदश-शतकभवस्य बङ्गपण्डितस्य परमानन्दचक्रवर्तिनो नैयायिकस्य काव्यप्रकाश-विस्तारिकायाम् अयमर्थोऽभिनवभारत्यनुकूल एव व्याख्यातः-**'लौकिकेत्यादि। विलक्षणपदं प्रमाणेत्यन्त-योगिज्ञानेत्यन्त-संवेदनेत्यन्तैः सह प्रत्येकमन्वेति। लौकिकं सन्निकर्षान्यतमजन्यं प्रत्यक्षप्रमाणं चक्षुरादिजन्या प्रमा। मानसत्वेन ततो वैलक्षण्यम्, योगिज्ञानवैलक्षण्यमाह-ताटस्थ्येनेत्यादि'**। एतादृशमेव व्याख्यानं नरसिंहसरस्वतीतीर्थ-विरचितायां काव्यप्रकाशस्य बालचित्तानुरञ्जनी व्याख्यायां श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यस्य सारबोधिन्यां च स्फुटं विहितम्।

इत्थं प्राचीनव्याख्यानामालोकेऽपि अभिनवभारतीगतो मम्मटप्रतिपादितश्च परमार्थोऽत्र ग्राह्यः, पूर्वोक्तान्याधुनिक व्याख्यानानि च शोधनीयानि।

'वेद्यान्तर'- इत्यपपाठ-समीक्षा

अस्मिन्नेव प्रसङ्गे परिमितेतरयोगिसंवेदनप्रतिपादकस्थलेऽपपाठरूपः प्रमादोऽपि प्रायेण सर्वेष्वाधुनिकेषु मुद्रितकाव्यप्रकाश-पुस्तकेषु लब्धप्रसरोऽनर्थं जनयति। स च एष-**'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसित-परिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्'** इति- अत्र वेद्यान्तर इत्यपपाठः। एतस्य आगन्तुकस्य पाठस्य स्थाने आद्यपाठस्तु **'वेद्य'** इत्येवासीदिति औचित्यानुरोधेन प्राचीनटीकानां समर्थनेन च निश्चप्रचं ज्ञायते।

---

४. काव्यप्रकाश-दीपिका पृ० ११९

५. आचार्य श्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतायां व्याख्यायाम्। पृ० १३५

परमधुनातनेषु काव्यप्रकाशसंस्करणेषु वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितेत्यशुद्धपाठो दृश्यते। तदनुसारि चाधुनिकानामशुद्धव्याख्यानं दूरारूढं सत् सर्वत्र लब्धप्रसरमभूत्। यथा बालबोधिनीकारस्याचार्यवामनझलकीकर-महाभागस्य व्याख्यानं पूर्वमुद्धृतम्। वस्तुतो मितेतरयोगिसंवेदनं सकलवैषयिकोपरागशून्यत्वात् स्वात्ममात्रपर्यवसितत्वात्- वेद्यशून्यं भवति, तत्रात्मस्वरूपमात्रभानात् किमपि वेद्यं नैव भवति। एतदभिनवभारत्यां प्राचीनग्रन्थेषु च स्फुटतया दृश्यते।

अभिनवभारत्यामिदं तृतीयं परयोगिसंवेदनमित्थं निर्दिश्यते-'**सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगत-स्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते**'। अभिनवभारतीगत एव भावो मम्मटभट्टेन '**वेद्यसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रर्यवसिते**'ति विशेषणाभ्यां निर्दिष्टः। यद्यत्र 'वेद्यान्तरेति' पाठो मन्येत चेत् काव्यप्रकाशगतं स्वात्ममात्रपर्यवसितेति विशेषणं व्यर्थं भवति। मम्मटोऽत्र '**स्वात्ममात्रपर्यवसित**'शब्देन तदा '**द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति**' योगदर्शनप्रोक्तमसम्प्रज्ञातसमाधिगतम् आत्मस्वरूपावस्थानं सूचयति। अतोऽत्रात्मस्वरूपानुभूतिव्यतिरिक्तं किमपि वेद्यमेव नास्तीति युज्यते वेद्यसंस्पर्शरहितेति पाठः। मम्मटस्यायमुपन्यासश्च अभिनवभारत्या इमां पंक्तिमुपजीव्य तिष्ठति- '**सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगत-स्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते**' इति।

काव्यप्रकाशस्य तालपत्राङ्कितायां सर्वतः प्राचीनायां जैसलमेरजैनग्रन्थभाण्डागारे प्राप्यां जोधपुरस्थप्राच्यविद्याप्रतिष्ठानेन च (२०१६ मितो विक्रमाब्दे) प्रकाशितायां मातृकायां '**वेद्यसंस्पर्शे**'त्येव पाठोऽस्ति। अनन्तरकालेऽर्वाचीनमातृकास्वत्र पाठभ्रंशोऽभूदिति निश्चीयते। प्राचीनाष्टीकाकारा अपि अमुमेव मूलपाठं निर्दिशन्ति। तद्यथा रुय्यकः काव्यप्रकाशसङ्केते-'**अपरिमितयोगिनां शान्तब्रह्मसाक्षात्कारिणां संवेदनानि शान्तत्वाद् वेद्योपरागशून्यत्वेन स्वात्ममात्रपर्यवसितानि।**' एवमेव अलङ्कारमहोदधिकारो नरेन्द्रप्रभसूरिरपि '**वेद्यसंस्पर्शरहितत्वेन स्वात्ममात्रपर्यवसितात्**' इत्येवं पठति। इत्थमौचित्यानुरोधात् प्राचीनानां लिखितपुस्तकानां संवादात् प्राचीनानां टीकाकाराणां साक्ष्याच्चात्र '**वेद्यान्तरे**'त्यस्य स्थाने '**वेद्ये**'त्येव मूलपाठोऽवगन्तव्यः।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१२१-१३५)

अश्वघोष के महाकाव्यों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त

डॉ० (श्रीमती) कौशल्या चौहान[१]

संस्कृत महाकवियों की अजस्र परम्परा में अश्वघोष का स्थान विशिष्ट है। अश्वघोष एक उच्चकोटि के आचार्य, वैयाकरण, कवि तथा प्रचारक थे।[२] इनका व्यक्तित्व एक सफल महाकाव्यकार का है। महाकाव्य की रचना के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उनकी पूर्णता इनमें दिखाई पड़ती है।[३] अश्वघोष प्रतिष्ठित बौद्ध-कवि थे। बौद्धधर्म को विश्वधर्म बनाने वाले दृढ़तम आधारस्तम्भ थे, विश्वव्यापी दो महान् सम्राट्, जिनमें प्रथम थे, प्रियदर्शी अशोक एवं द्वितीय थे, कुषाणवंशीय महाराज कनिष्क।[४] अश्वघोष को इन्हीं का संरक्षण प्राप्त था। बुद्धचरित के अन्तिम सर्ग में बौद्ध सम्राट् अशोक एवं उनके द्वारा निर्मित स्तूपों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि अश्वघोष, अशोक के पश्चात् हुये।[५] अधिकतर विद्वान् अश्वघोष को द्वितीय बौद्ध सम्राट् कनिष्क का समकालीन मानते हैं।[६] कनिष्क ने अश्वघोष के संरक्षकत्व में बौद्ध विद्वानों एवं दार्शनिकों की संगीति बुलाकर उनके द्वारा सुगतधर्म के दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों की समीक्षा करायी।[७] स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है कि अश्वघोष ने कितने ग्रन्थों की रचना की थी। एफ० डब्ल्यू० थामस ने अश्वघोष द्वारा रचित पाँच कृतियों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है- बुद्धचरित, शारिपुत्रप्रकरण, सौन्दरनन्द, गण्डी-स्तोत्र तथा वज्रसूची।[८] अश्वघोष की सन्देहहीन साहित्यिक रचनायें मुख्यतः तीन ही हैं - बुद्धचरित, सौन्दरनन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण।[९] इनमें प्रथम दो महाकाव्य तथा अन्तिम नाटक हैं।[१०] यद्यपि अश्वघोष के महाकाव्यों में बौद्ध-दर्शन के प्रमुख

---

१. रीडर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला.

२. प्रीति प्रभा गोयल, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ०, १००

३. राजवंश सहाय हीरा, संस्कृत साहित्य कोश, पृ०, ३६

४. रामायण प्रसाद द्विवेदी, बौद्ध संस्कृत काव्य-समीक्षा, पृ०, १३३

५. ततो धर्मप्रियोऽशोको बभूव प्रियदर्शनः। विशोकान् सज्जनान् दुष्टान् सशोकान् कृतवानसौ।। स्तूपांश्चकार सर्वत्र मौर्यो जनहिताय सः। चण्डाशोकादतो धर्मराजोऽशोकोऽभवत् खलु।। बु० च०, २८.६५-६६

६. सुखबीर सिंह, सौन्दरनन्द महाकाव्य - एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ०, ३८

७. रामायण प्रसाद द्विवेदी, बौद्ध संस्कृत काव्य-समीक्षा, पृ०, १३३

८. वही, पृ०, १४४

९. मधुसत्यदेव, संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ०, ८९

१०. वही

सिद्धान्तों - आर्यसत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग, रत्नत्रय, ध्यान-चतुष्टय, पञ्चस्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद, कर्मवाद तथा निर्वाण आदि का पूर्णरूपेण वर्णन किया गया है, तथापि अग्रिम पृष्ठों में अश्वघोष के महाकाव्यों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त विषयक सामग्री का ही उल्लेख किया जायेगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धदर्शन का आधार है।[११] इसे जाने बिना बौद्धधर्म को समझ पाना सम्भव नहीं है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधि प्राप्ति के प्रथम याम में पूर्वजन्मज्ञान, मध्यम याम में दिव्य चक्षुत्व और अन्तिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार किया था।[१२] भगवान् बुद्ध अपने शिष्य आनन्द से कहते हैं, आनन्द! यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर-सा दीखता (भी) है। आनन्द! इस धर्म के न जानने से अर्थात् न प्रतिवेध करने से ही, यह प्रजा उलझे सूत सी, गाँठि पड़ी रस्सी सी, मूँज-बल्वज सी, अपाय, दुर्गति, पतन को प्राप्त हो, संसार से पार नहीं हो सकती है।[१३] बुद्ध कहते हैं कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है, जो धर्म को जानता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को भी जानता है।[१४] अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि सब प्रकार की ध्यान-विधियों में पूर्ण प्रभुता प्राप्त करके उस (बुद्ध) ने प्रथम प्रहर में अपने पूर्व जन्मों की परम्परा का स्मरण किया।[१५] अद्वितीय पराक्रमी एवं समस्त दृष्टिमानों में श्रेष्ठ उस (मुनि) ने द्वितीय प्रहर आने पर परम दिव्य चक्षु पाया।[१६] चतुर्थ प्रहर उषःकाल में जबकि चराचर शान्त था, उस ध्याता ने अविनाशी पद एवं सर्वज्ञत्व को प्राप्त किया।[१७]

प्रतीत्यसमुत्पाद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

आचार्य वसुबन्धु के अनुसार 'प्रति' का अर्थ है 'प्राप्ति', 'इण्' धातु गत्यर्थक है,[१८] किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को बदलता है,[१९] इसलिये 'प्रति+इण्' का अर्थ 'प्राप्ति' है और 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त करके' है।

---

११. दर्शन दिग्दर्शन, पृ०, ५१५

१२. चतुःशतकम्, परिवर्त, २, पृ०, ४५

१३. दीघ-निकाय, महानिदान सुत्त, पृ०, ११०

१४. यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति। यः धर्मं पश्यति सः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति।। मध्यमकशास्त्रम्, प्रत्ययपरीक्षा, पृ०, २

१५. सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम्। सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरम्पराम्।। बु० च०, १४.२

१६. द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः। दिव्यं लेभे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः।।। वही, १४.७

१७. तुर्ययाम उषःकाले यदा शान्ताश्चराचराः। अविनाशिपदं ध्याता सर्वज्ञत्वञ्च प्राप्तवान्।। वही, १४.८९

१८ प्रतिः प्राप्त्यर्थ, एतिः गत्यर्थ। अभिधर्मकोशम्, प्रथमो भागः, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.२८ पर भाष्य, पृ०, ४५३

१९. उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। मध्यमकशास्त्रम्, प्रत्ययपरीक्षा, पृ०, २

'पद्' धातु सत्तार्थक है। 'सम्+उत्' उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है अर्थात् वह उत्पद्यमान है। प्रत्ययों का प्रतिगमन कर उसका उत्पाद होता है।[२०] नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है 'सापेक्षकारणतावाद'। प्रतीत्य (प्रति+इण् गतौ+ल्यप्) अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति।[२१] वास्तव में प्रतीत्य शब्द का अर्थ है-कारण और समुत्पाद का अर्थ है-उत्पन्न होना। अनादि काल से व्यक्ति की उत्पत्ति हेतुफल के अनुसार हो रही है और जब तक हेतुफल बनें रहेंगे, तब तक उसकी सन्तति अविच्छिन्न रूप से बनी रहेगी। इस सन्तति को अटूट बनाये रखने में किसी अदृश्य शक्ति का सम्बन्ध नहीं है प्रत्युत हेतुफल (कार्य-कारण) के कारण यह सम्बन्ध सदा बना रहता है। एक के विनाश के पश्चात् उसी के कारण से दूसरे की उत्पत्ति होती है। यह क्रम उस समय तक बना रहता है, जब तक हेतु का सर्वदा विनाश न हो जाये।[२२] अतः प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति और सत्ता के लिये कारण पर आश्रित है। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है।[२३]

अश्वघोष का मत है कि लोक में कारण-रूप बीज से कार्य-रूप अङ्कुर देखा जाता है।[२४] कारण के अनुसार ही कार्य होता है, यह भी प्रत्यक्ष है।[२५] वास्तव में जो सार्वभौम कारण है, उसे लोग नहीं जानते हैं। यह चराचर विश्व बिना कारण के कैसे हो सकता है।[२६] प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानों पर आधारित है:- अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास।[२७] अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से नामरूप, नामरूप प्रत्यय से षडायतन, षडायतन प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान, उपादान प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जाति, जाति प्रत्यय से जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास आदि होते हैं। इस प्रकार समस्त दुःखस्कन्ध का समुदय होता है, यही प्रतीत्यसमुत्पाद

---

२० पदिः सत्तार्थः, समुत्पूर्वः प्रादुर्भावार्थः, तेन प्रत्ययं प्राप्य समुद्भवः प्रतीत्यसमुत्पादः। अभिधर्मकोशम्, प्रथमोभागः, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.२८ पर भाष्य, पृ०, ४५३

२१. प्रतीत्यशब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। समुत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थ इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। मध्यमकशास्त्राम्, प्रत्ययपरीक्षा, पृ०, २

२२. भारत में बौद्ध-निकायों का इतिहास, पृ०, २५-२६

२३. ममता मिश्रा, भारतीय दर्शन, पृ०, ७९

२४. दृश्यते कारणाद् बीजात् कार्यमत्राङ्कुरात्मकम्।। बु० च०, १८.३१

२५. कारणानुविधायित्वात् कार्यस्येह च लक्ष्यते। वही, १८.३५

२६. यत्कारणं न तल्लोका विदुस्ते सार्वभौमिकम्। चराचरमिदं विश्वं कारणेन विना कथम्।। वही, १८.५३

२७. चतुःशतकम्, परिवर्त, २८, पृ०, ४६

है।[२८] प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों को **'भवचक्र'** भी कहा जाता है। यह 'भवचक्र' अनादि है।[२९] इस 'भवचक्र' का सम्बन्ध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों जन्मों से है।[३०] वसुबन्धु के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्ग तथा तीन काण्ड हैं। पूर्व तथा अपरान्त काण्ड के दो-दो तथा मध्य काण्ड के आठ अङ्ग हैं।[३१] अश्वघोष ने भी कार्यकारण की इस शृङ्खला की तीन अवस्थाओं तथा बारह निश्चित भेदों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मुनि (बुद्ध) ने इसे (सत्य) अनुपम, निर्विवाद तथा उत्तम बतलाकर सर्वप्रथम कौण्डिन्य को विनीत (दीक्षित) किया था।[३२] अश्वघोष के महाकाव्यों में प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से उपलब्ध होता है।

१. जरा-मरण का कारण जाति

जरा-मरण कारण और जाति जरा-मरण का अर्थ है- दुःख सत्य (प्रथम आर्यसत्य) और दुःख का **अर्थ है - संसार।** अतः संसार दुःख है और जरा-मरण इस दुःख का प्रतीक है।[३३] जरा-मरण की उत्पत्ति जाति से होती है। यदि जीव का जन्म ही न होता तो जरा-मरण का अवसर ही नहीं आता।[३४] विसुद्धिमग्ग में उल्लेख आता है कि जातिप्रत्यय से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है।[३५] अश्वघोष का मत है कि जन्म से ही जरा-मरण होता है, अन्य किसी कारण से नहीं।[३६] यदि जन्म ही नहीं होता तो मनुष्य जरा-मरण से ग्रस्त नहीं होते। सिर

---

२८. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। मध्यमकशास्त्रम्, द्वादशाङ्गपरीक्षा, २६.१२ की व्याख्या, पृ०, २४५

२९. इत्यनादिभवचक्रम्। अभिधर्मकोशम्, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.१९, पृ०, ४३४

३०. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ०, १८४

३१. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः। पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः।। वही, ३.२०, पृ०, ४३५

३२. अभिधाय च त्रिपरिवर्तमतुलमनिवर्त्यमुत्तमम्। द्वादशनियतविकल्पमृषिर्विनिनाय कौण्डिनसगोत्रमादितः।। सौ० ३.१२

३३. ममता मिश्रा, भारतीय दर्शन, पृ०, ७९

३४. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ०, ६५

३५. जातिपच्चया भिक्खवे जरामरणं। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमि निद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, ११७३

३६. जन्मनस्त्वेव सद्भावाज्जरामृत्यू न चान्यथा।। बु० च०, १४.५३

होने पर ही सिरदर्द सम्भव है। वृक्ष होने पर ही उसे काटकर गिराया जाता है।[३७] अश्वघोष का निश्चित मत है कि जरा-आदि विपत्तियों का मूल जन्मरूपी दुःख है, जैसे सभी औषधियों की उत्पत्ति भूमि से होती है, वैसे ही सभी विपत्तियों का (उत्पत्ति) क्षेत्र जन्म है।[३८] अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि जन्मके नाश से जरा-मरण का निरोध हो सकता है, अन्यथा नहीं।[३९]

२. जाति का कारण भव

जाति का अर्थ है-जन्म। यह भविष्य जन्म में मनुष्य की वह दशा है, जब वह माता के गर्भ में आता है और अपने दुष्कृत या सुकृत के फलों को भोगने की योग्यता पाता है।[४०] जन्म लेने का कारण भव अर्थात् हमारी स्वयं जन्म लेने की इच्छा है।[४१] आचार्य बुद्धघोष ने भी भवप्रत्यय से जाति का होना बतलाया है।[४२] भव अवस्था में मनुष्य आसक्ति के वश में होकर अनेक प्रकार के भले-बुरे कर्मों का अनुष्ठान करता है। इन्हीं कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है। इस नवीन जन्म का कारण वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्य-कलाप ही होता है।[४३] अश्वघोष के अनुसार भव से जन्म होता है और जन्म से जरा-मरण होते हैं। उनके अनुसार प्रत्ययों से भव उत्पन्न होता है।[४४] गौतम ने जन्म का कारण कर्मभव को ही जाना। उन्होंने देखा कि न स्रष्टा से, न प्रकृति से, न अभाव से और न ही आत्मा से प्रवृत्ति (जीवन) होती है, बल्कि कर्म से ही प्रवृत्ति होती है।[४५] अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि कर्म का नियत फल भविष्य में प्राप्त होगा, (वर्तमान में) प्राप्त हो रहा है और (अतीत में) प्राप्त हुआ है; (कर्म के अनुसार ही) संसार में जीवों की गति निश्चित होती है। कपिलवस्तु नगरी के प्रसङ्ग में अश्वघोष ने वर्णन किया है कि अपने सद्गुणों के कारण किसी ने जन्म-सुख (जीवन के भोगों) की अभिलाषा नहीं की।

---

३७. शिरोऽस्तित्वे शिरःपीडा, सति वृक्षे च कर्तनम्।। वही, १४.५४

३८. तस्माज्जरादेर्व्यसनस्य मूलं समासतो दुःखमवेहि जन्म। सर्वौषधीनामिव भूर्भवाय सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म।। सौ०, १६.७

३९. जन्मनाशाज्जरामृत्योर्निरोधो नान्यथा पुनः।। बु० च०, १४.८०

४०. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ०, ६५

४१. ममता मिश्रा, भारतीय दर्शन, पृ०, ७९

४२. भवपच्चया भिक्खवे जाति। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमि निद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, ११७३

४३. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ०, ६४-६५

४४. भवाज्जन्म मतं तेन जरामृत्यू तु जन्मतः। सम्यग् ज्ञातस्ततस्तेन प्रत्ययेभ्यो भवोद्भवः।। बु० च०, १४.७९

४५. जन्मनः कारणं किं स्यादिति चिन्तापरो मुनिः। ततः कर्म भवञ्चैव निदानं दृष्टवानसौ।। कर्मणैव प्रवृत्तिर्हि दृष्टा तेनान्तरात्मना। न प्रकृत्या न कर्त्रा च नाभावेन न चात्मना।। वही, १४.५५-५६

सम्पूर्ण भव (जन्म, संसार) को अमङ्गलमय समझकर लोगों ने भव-विनाश के लिये आचरण किया, न कि पुनर्जन्म के लिये।[४६] बुद्ध ने अच्छी तरह निश्चय किया कि भव के नाश होने पर ही जन्म का नाश हो सकता है।[४७]

३. भव का कारण उपादान

भव का कारण उपादान होना मात्र ही भव है। भव, कर्मभव और उत्पत्तिभव - दो प्रकार का होता है।[४८] सभी कर्म जो पुनर्जन्म के कारक हैं, कर्मभव कहलाते हैं। जिस-जिस उपादान को लेकर सत्त्व जिस-जिस लोक में जन्मता है, उसे उत्पत्तिभव कहते हैं।[४९] बौद्ध-दर्शन में भव का कारण उपादान माना गया है।[५०] विषय-भोगों में अत्यधिक तृष्णा के कारण मनुष्य में जो अतृप्त वासनायें रह जाती हैं, उन्हें तृप्त करने की इच्छा से जन्म में जाने की जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे ही उपादान कहलाती हैं।[५१] अश्वघोष ने उल्लेख किया है कि बुद्ध ने उपादान में भव के कारण को निहित देखा। इस प्रकार उन्होंने भव के कारण का प्रयत्नपूर्वक ध्यान किया। इस लोक में जीवन के जो विविध व्रत, शील एवं कर्म हैं, वे ही उपादान हैं; जैसे ईन्धन से अनल होता है।[५२] बुद्ध ने जाना कि उपादान से भव का उद्भव होता है।[५३] भव का कारण उपादान है, यही स्पष्ट करते हुये बुद्ध नन्द से कहते हैं कि जीव आसक्तियों के अधीन और अपने-अपने जन्म (जीवन, योनि) से प्रीति करते हुये देखे जाते हैं। (आसक्तियों और प्रीति के) अभ्यास के कारण ही वे दोषों के साथ फिर जन्म लेते हैं, ऐसा जानना चाहिये।[५४] उपादान के निरोध होने पर भव निश्चित रूप से संरुद्ध हो जाता है।[५५]

---

४६. नियतं भविष्यति परत्र भवदपि भूतमप्यथो। कर्मफलमपि च लोकगतिर्नियतेति दर्शनमवाप साधु च।। न च तत्र कश्चिदुपपत्तिसुखमभिललाष तैर्गुणैः। सर्वमशिवमवगम्य भवं भवसंक्षयाय ववृते न जन्मने।। सौ०, ३.३६, ३८

४७. जन्मनाशो भवे नष्ट इति सम्यग् विनिश्चितम्।। बु० च०, १४.८०

४८. तत्थ भवतीति भवो। सो कम्मभवो, उपपत्तिभवो चाति दुविधो होति। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमि निद्देसो, उपादानपच्चयाभवपदवित्थारकथावण्णना, पृ० १३३२

४९. अभिधर्मदेशनाः बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ०, १६६

५०. दीघ निकाय, महानिदान-सुत्त, २.२, पृ०, ११०

५१. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ०, १२०

५२. ततो दधौ भवस्यास्य कारणं यत्नवान् मुनिः। उपादाने ददर्शासौ निहितं भवकारणम्।। विविधं जीवनस्यात्र व्रतं शीलं च कर्म च। उपादानं तदेव स्यादिन्धनादनलो यथा।। बु० च०, १४.५८-५९

५३. उपादानं ततस्तस्माज्ज्ञातस्तेन भवोद्भवः।। वही, १४.७८

५४. सत्त्वान्यभिष्वङ्गवशानि दृष्ट्वा स्वजातिषु प्रीतिपराण्यतीव। अभ्यासयोगादुपपादितानि तैरेव दोषैरिति तानि विद्धि।। सौ०, १६.२०

४. उपादान का कारण तृष्णा

उपादान का अर्थ दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना है। यहाँ उपायास, उपकुष्ट आदि के समान 'उप' शब्द दृढ़ अर्थ का ही द्योतक है।[५६] उपादान अर्थात् आसक्ति का कारण तृष्णा है।[५७] अश्वघोष के अनुसार उपादान के कारण पर चिन्तन करते हुये बुद्ध ने सर्वप्रथम तृष्णा को पाया। जिस प्रकार वायु से युक्त होकर अग्नि का कण जङ्गल में फैल जाता है, उसी प्रकार तृष्णा से युक्त काम ही कर्मरूप जङ्गल में बढ़ जाता है।[५८] आसक्ति के कारण ही उस-उस विषय की इच्छा होने पर चलने और बैठने आदि की क्रिया होती है, इसलिये जानना चाहिये कि तृष्णा के वशीभूत होने पर ही प्राणियों का जन्म होता है।[५९] तृष्णा का निरोध होने पर उपादान का क्षण में ही निरोध हो जाता है।[६०]

५. तृष्णा का कारण वेदना

प्यास का होना तृष्णा है।[६१] कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार अन्धेरे में चोर अपने हाथ फैलाता है, उसी प्रकार अप्राप्य विषयों को पाने की इच्छा तृष्णा है।[६२] वसुबन्धु ने रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति अनुराग तथा भोग की कामना को तृष्णा कहा है।[६३] अश्वघोष के अनुसार तृष्णा का कारण वेदना है। यह संसार वेदना से आकृष्ट होकर तृप्ति के लिये दौड़ता है। मनुष्य प्यास से व्याकुल होकर जल चाहता है, अन्यथा नहीं।

---

५५. उपादाननिरोधेन भवः संरुध्यते ध्रुवम्।। बु० च०, १४.८१

५६. उपादानं ति दळहग्गहणं। दळहत्थो हि एत्थ उपसद्दो उपायास - उपकुट्ठादीसु विय। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, तण्हापच्चयाउपादानपदवित्थारकथावण्णना, पृ०, १३२६

५७. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ०, १२०

५८. उपादानमिदं केन हेतुना चात्र जायते। इति चिन्तयता तेन तृष्णैव ददृशे पुरः।। यथा वायुयुतो वह्निकणोऽरण्ये प्रवर्धते। तथा तृष्णायुतः कामः कर्मारण्ये विवर्धते।। बु० च०, १४.६०-६१

५९. इच्छाविशेषे सति तत्र तत्र यानासनादेर्भवति प्रयोगः। यस्मादतस्तर्षवशात् तथैव जन्म प्रजानामिति वेदितव्यम्।। सौ०, १६.१९

६०. तृष्णारोध उपादानं निरुद्धं भवति क्षणात्।। बु० च०, १४.८२

६१. परितस्सती ति तण्हा। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, १२०७

६२ केचि पनाहु अप्पत्तविसयपत्थना तण्हा अन्धकारे चोरस्स हत्थप्पसारणं विय। वही, तण्हापच्चयाउपादानपदवित्थारकथावण्णना, पृ०, १३२८

६३. तृष्णा भोगमैथुनरागिणः। कामगुणमैथुनरागसमुदाचारावस्था तृष्णेत्युच्यते।। अभिधर्मकोशम्, तृतीयं कोशस्थानं, ३.२३, पृ०, ४३८

क्योंकि प्यास के अभाव में किसी को जल का आनन्द नहीं आता है और प्यास लगने पर ही जल की चाह होती है।[६४] वेदना का नाश होने पर तृष्णा का अस्तित्व नहीं रहता है।[६५]

६. वेदना का कारण स्पर्श

सुख, दुःख, न सुख और न दुःख - ये वेदना के तीन प्रकार हैं।[६६] वसुबन्धु ने चक्षुस्पर्श से उत्पन्न होने वाली छः वेदनायें मानी हैं। पुनः उन्होंने मनोपविचारव्यवस्था से वेदना को अट्ठारह प्रकार का बतलाया है।[६७] नवासी चित्तों से सम्प्रयुक्त होने से वेदनायें प्रभेद से नवासी मानी जाती हैं।[६८] वेदना की उत्पत्ति स्पर्श (इन्द्रिय-विषयसंयोग) के कारण होती है।[६९] अश्वघोष के अनुसार उस जितेन्द्रिय (बुद्ध) ने वेदना का मूल (कारण) जानने के लिये ध्यान किया। तब वेदना का अन्त करने वाले उसने स्पर्शों में वेदना का उद्गम देखा। बुद्ध ने इन्द्रियों, वस्तुओं एवं मन के संयोग को स्पर्श कहा है। उस (स्पर्श) से वेदना (संज्ञा या चेतना) की उत्पत्ति होती है, जैसे अरणि (मन्थन) से अग्नि उत्पन्न होती है।[७०] बुद्ध नन्द को उपदेश देते हुये कहते हैं कि सभी अवस्थाओं में दृष्टि, घ्राण, श्रवण, आस्वाद और स्पर्श - इन बुराई करने वाले शत्रुओं को नियन्त्रित करने में सावधान रहो। इस विषय में तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो।[७१] स्पर्श के अच्छी तरह नष्ट होने पर, वेदना

---

६४. पुनर्दध्यौ स तृष्णैषा वा जायते केन हेतुना। ततो ध्यानपरः सम्यक् कारणं वेद वेदनाम्।। तयो चाकृष्टलोकोऽयं तृप्त्यर्थमनुधावति। पिपासाकुलितो लोको जलं वाञ्छति नान्यथा।। बु० च०, १४.६२-६३

६५. वेदनायां विनष्टायां तृष्णास्तित्वं न विद्यते। वही, १४.८२

६६. तिस्सो इमा भिक्खु वेदना वुत्ता मया। सुखा-दुक्खा-अदुक्खमसुक्खा वेदना। अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, सन्दर्भ संख्या, २, पृ०, १५९

६७. तज्जाः षड्वेदनाः, पञ्च कायिकी चैतसी परा। पुनश्चाष्टादशविधा सा मनोपविचारतः।। अभिधर्मकोशम्, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.३२, पृ०, ४७३, ४७९

६८. ता पन पभेदेन एकूननवुतिया चित्तेहि सम्पयुत्तत्ता एकूननवुति मता। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, फस्सपच्चयावेदनापदवित्थारकथावण्णना, पृ०, १३२२

६९. दीघ-निकाय, महानिदान-सुत्त, २.२, पृ०, ११०

७०. पुनः स वेदनामूलं ज्ञातुं दधौ जितेन्द्रियः। स्पर्शेषु वेदनास्रोतो ददर्श वेदनान्तकः।। अक्षतस्तु मनोयोगः स्पर्शं इत्यभिधीयते। तस्माच्च वेदनोत्पत्तिररणे पावको यथा।। बु० च०, १४.६४-६५

७१. तस्मादेषामकुशलकराणामरीणां चक्षुर्घ्राणश्रवणरसनस्पर्शनानाम्। सर्वावस्थं भव विनियमादप्रमत्तो मास्मिन्नर्थे क्षणमपि कृथास्त्वं प्रमादम्।। सौ०, १३.५६

निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।[७२]

७. स्पर्श का कारण षडायतन

स्पर्श का कारण षडायतन छूना स्पर्श है।[७३] स्पर्श शैशव की वह अवस्था है, जब शिशु बाह्य जगत् के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। वह अपनी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी जगत् को समझने का उद्योग करता है, परन्तु उसका इस समय का ज्ञान धुँधला होता है।[७४] स्पर्श का कारण षडायतन अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ - त्वक्, चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना तथा छठा मन है।[७५] अश्वघोष के मतानुसार स्पर्श के कारण पर ध्यान करते हुये लोकवेत्ताओं में श्रेष्ठ उस (बुद्ध) ने संसार में षड्-आयतनों को स्पर्श का कारण जाना। अन्धा (मनुष्य) घट नहीं देखता है, क्योंकि दृष्टि से घट का संयोग नहीं हैं। अतः आयतनों के रहने पर ही स्पर्श का होना सम्भव है।[७६] बुद्ध नन्द को उपदेश देते हैं कि विषयों से इन्द्रिय-समूह की तृप्ति नहीं होती है, जैसे जल-राशि से निरन्तर पूर्ण होते रहने पर भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती है। अतः अत्यन्त यत्नपूर्वक इन्द्रियों की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों की रक्षा नहीं करने से दुःख और पुनर्जन्म होता है।[७७] षड्-आयतनों के सम्यक् नष्ट होने पर स्पर्श विलीन हो जाता है।[७८]

८. षडायतन का कारण नामरूप

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय - इन पाँच इन्द्रियों तथा छठे मन को जोड़ने पर- ये छह इन्द्रियाँ आध्यात्मिक षडायतन हैं और इनके विषय - रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म बाह्य षडायतन हैं।[७९]

---

७२. स्पर्शे नष्टे ततः सम्यग् वेदना नश्यति ध्रुवम्।। बु० च०, १४.८३

७३. फुसती ति फस्सो। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमि निद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, १२०७

७४. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ०, ६४

७५. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन,पृ०, १२०

७६. पुनश्च ध्यायमानोऽसौ स्पर्शस्यापि हि कारणम्। जज्ञावायतनं षट्कं लोके लोकविदां वरः।। न पश्यति घटं ह्यन्धो यतो दृष्ट्या युतो न सः। अतो ह्यायतनेष्वेव सत्सु स्पर्शस्य संभवः।। बु० च०, १४.६६-६७

७७. विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति। अजस्रं पूर्यमाणोऽपि समुद्रः सलिलैरिव।। कार्यः परमयत्नेन तस्मादिन्द्रियसंवर। इन्द्रियाणि ह्यगुप्तानि दुःखाय च भवाय च।। सौ०, १३.४०, ५४

७८. षडायतनसन्नाशे स्पर्शश्चापि विलीयते।। बु० च०, १४.८३

७९. अभिधर्मदेशनाः बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ०, १५६

षडायतन की उत्पत्ति नामरूप से होती है।[८०] अश्वघोष उल्लेख करते हैं कि बुद्ध ने षडायतनों के कारण पर चिन्तन करते हुये नामरूप को षडायतनों का कारण जाना। जिस प्रकार अङ्कुर के रहने पर पत्रों एवं शाखाओं का उद्‌गम होता है, उसी प्रकार नामरूप के रहने पर आयतनों का उद्‌गम होता है।[८१] बुद्ध नन्द से कहते हैं, हे उदार आचरणवाले! गुणों के अनुसार जहाँ नामरूप की निष्पत्ति होती है, वहीं दु:ख है। इसको छोड़कर और कहीं भी दु:ख नहीं है, न था और न होगा।[८२] नामरूप के निरोध होने पर षड्-आयतनों का सम्यक् क्षय हो जाता है।[८३]

९. नामरूप का कारण विज्ञान

'नाम' कहते हैं आलम्बन की ओर झुकने से वेदना आदि तीन स्कन्धों को। 'रूप' कहते हैं चार महाभूत और चारों महाभूतों को लेकर उत्पन्न हुये रूप को।[८४] विज्ञान के कारण नामरूप की उत्पत्ति होती है।[८५] अश्वघोष के अनुसार ज्ञान के पारङ्गत बुद्ध ने नामरूप के कारण के मूल में विज्ञान को स्थित देखा। विज्ञान के उदय होने पर ही नामरूप का उदय सम्भव है, क्योंकि बीज का सम्यक् विकास होने पर ही यहाँ अङ्कुर दीखता है।[८६] जब मनुष्य नामरूप को नाशवान् देखता है, तब वह ठीक-ठीक देखता है और ठीक-ठीक देखता हुआ वह सम्यक् निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है और नन्दी (तृष्णा) का नाश होने से उसका राग नष्ट हो जाता है।[८७] विज्ञान के निरोध होने पर नामरूप नष्ट हो जाते हैं।[८८]

---

८०. नामरूपं सळायतनस्स पच्चयो ति। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, नामरूपपच्चयासळायतनपद-वित्थार कथा, पृ०, १३१४

८१. ततः षट्कस्य तत्त्वज्ञ आयतनस्य कारणम्। नामरूपे विवेदासौ चिन्तयन् सततं धिया।। अङ्कुरे सति पत्राणां शाखानां च समुद्गमः। आयतनोद्गमस्तद्वद्वै सतो नामरूपयोः।। बु० च०,१४.६८-६९

८२. तन्नामरूपस्य गुणानुरूपं यत्रैव निर्वृत्तारुदारवृत्त। तत्रैव दुःखं न हि तद्विमुक्तं दुःखं भविष्यत्यभवद्भवेद्वा।। सौ०,१६.१६

८३. नामरूपनिरोधे च षडायतनसक्षयः।। बु० च०, १४.८४

८४. नामं ति आरम्मणाभिमुखं नमनतो वेदनादयो तयो खन्धा। रूपं ति चत्तारि महाभूतानि चतुन्नञ्च महाभूतानं उपादयरूपं। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, विञ्ञाणपच्चयानामरूपपदवित्थारकथा, पृ०, १३०६

८५. विञ्ञाणपच्चया नामरूपं ति वेदितब्बा। वही, पृ०, १३०७

८६. ततश्च स पुनर्दध्यौ कारणं नामरूपयोः। ज्ञानपारङ्गतोऽपश्यद्विज्ञानं मूलमास्थितम्।। विज्ञानस्योदये नामरूपे संभवतो यतः। सम्यग्विकसिताद्बीजादंकुरोऽत्र विभाव्यते।। बु० च०, १४.७०-७१

८७. यदैव यः पश्यति नामरूपं क्षयीति तद्दर्शनमस्य सम्यक्। सम्यक्च निर्वेदमुपैति पश्यन्नन्दीक्षयाच्च क्षयमेति रागः।। सौ०, १६.४४

१०. विज्ञान का कारण संस्कार

विज्ञान वर्तमान जीवन की वह दशा है जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चेतना लाभ प्राप्त करता है।[८९] भगवान् आनन्द को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे आनन्द! यदि माता की कुक्षि में विज्ञान न आता तो नामरूप नहीं होता।[९०] परन्तु यह विज्ञान या चैतन्य बन्धन में क्यों फंस गया। इस विज्ञान के बन्धन-ग्रस्त होने का कारण कर्मगत संस्कार हैं।[९१] संस्कार प्रत्यय से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है।[९२] अश्वघोष के अनुसार विज्ञान 'प्रत्यय' है, जिससे नामरूप उत्पन्न होता है तथा नामरूप आधार है, जिस पर विज्ञान आश्रित है। जिस प्रकार जल में नौका मनुष्यों को ढोती है, परन्तु स्थल में मनुष्य नौका को ढोते हैं, उसी प्रकार विज्ञान एवं नामरूप को एक-दूसरे का कारण माना गया है। जैसे तपा हुआ लोहा तृण को जलाता है, जलता हुआ तृण लोहे को तपाता है, ठीक उसी प्रकार उन दोनों का परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है।[९३] नन्द को उपदेश देते हुये तथागत का कथन है कि जिन (प्रकारों के) जन्मों में जिसके दोषों का नाश हो गया है, उनमें वैराग्य होने के कारण वह फिर जन्म नहीं लेता है, किन्तु जिन (प्रकारों के जन्मों) में जिसका दोषाशय रह जाता है, उसमें वह विवश होकर जन्म लेता है।[९४] अश्वघोष का मत है कि संस्कार का निरोध हो जाने पर विज्ञान का निरोध हो जाता है।[९५]

---

८८. तथा विज्ञानरोधे च नामरूपे विनश्यतः।। बु० च०, १४.८४

८९. अभिधर्मदशेना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ०, १५१

९०. विज्ञानं चेदानन्द मातुः कुक्षिं नावक्रामेदपि तु तन्नामरूपं कललत्वायाभिसम्मूर्छेत्। अभिधर्मकोशम्, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.२० पर भाष्य, पृ०, ४३६

९१. ममता मिश्रा, भारतीय दर्शन, पृ०, ७९

९२. सङ्खारपच्चया इदं विञ्ञाणं होती ति। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, सङ्खारपच्चया-विञ्ञाणंपदवित्थारकथावण्णना, पृ०, १२६८

९३. विज्ञानं प्रत्ययो ह्यस्ति नामरूपोद्भवो यतः। नामरूपे तथाऽऽधारो विज्ञानञ्च यदाश्रितम्।। जले नयति नौर्मर्त्यं स्थलं नावं नरस्तथा। विज्ञानं नामरूपे च ह्यन्योन्यं कारणं मतम्।। तृणं दहति तप्तायोर्ज्वलत्तत्तापयत्ययः। कार्यकारणसम्बन्धस्तयोस्तद्वत्परस्परम्।। बु० च०, १४.७४-७६

९४. दोषक्षयो जातिषु यासु यस्य वैराग्यस्तासु न जायते सः। दोषाशयस्तिष्ठति यस्य यत्र तस्योपपत्तिर्विवशस्य तत्र।। सौ०, १६.२४

९५. संस्कारस्य निरोधेन विज्ञानं सन्निरुध्यते। इति चैवमन्योन्यं कारणं ज्ञातवान् मुनिः।। बु० च०, १४.८५

११. संस्कार का कारण अविद्या

पूर्वजन्म के कर्म ही संस्कार कहे जाते हैं।[९६] यह पूर्वजन्म की वह दशा है, जिसमें प्राणी अविद्या के कारण भला या बुरा कर्म करता है।[९७] संस्कार की उत्पत्ति अविद्या प्रत्यय से होती है।[९८] बुद्ध कहते हैं कि मनुष्य फल को साक्षात् जैसा देखता है, उसी के अनुसार उसके अतीत (पूर्व) बीज को (वैसा ही) समझ लेता है और बीज के स्वभाव को साक्षात् देखकर उसके अनागत (भावी) फल को भी समझ लेता है।[९९] अविद्या का अपगम (अभाव) होने पर अच्छी तरह से सम्पूर्ण संस्कार क्षीण हो जाते हैं।[१००]

१२. अविद्या

अविद्या का अर्थ है-अज्ञान। चार आर्यसत्यों का अज्ञान अविद्या है।[१०१] अथवा तत्त्व में अप्रतिपत्ति, मिथ्या प्रतिपत्ति अज्ञान अविद्या है।[१०२] आचार्य बुद्धघोष के अनुसार अविद्या अप्राप्य कायदुश्चरितादि को प्राप्त कराती है और प्राप्य सुचरितादि को प्राप्त नहीं होने देती है। स्कन्धों का राशि होना, आयतनों का आयतन होना, धातुओं का शून्य होना, इन्द्रियों का अधिपति होना और चार-आर्यसत्यों की यथार्थता को यह अविद्या आवृत्त कर प्रकट नहीं करती है। जो पीड़ाकारक दुःखादि कहे गये हैं, उन्हें अविदित रखती है। अन्तरहित संसार में जो सभी योनि - गति - भव - विज्ञान की स्थिति है - सत्त्वों को उनके आवासों में दौड़ाती है। परमार्थ से अविद्यमान स्त्री-पुरुष आदियों में दौड़ती और विद्यमान स्कन्धादि में नहीं दौड़ती है। यह चक्षुर्विज्ञानादि के आलम्बनों,

---

९६. संस्काराः पूर्वकर्मणः। 'दश' इति वर्तते। पूर्वजन्मन्येव या पुण्यादिकर्मावस्था सेह संस्कारा इत्युच्यन्ते, यस्य कर्मण इह विपाकः।। अभिधर्मकोशम्, तृतीयं कोशस्थानम्, ३.२१ पर भाष्य, पृ०, ४३७

९७. बलदेव उपाध्याय, बौद्धदर्शन-मीमांसा, पृ०, ६३

९८. अविज्जापच्चया सङ्खारा। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, अविज्जापच्चयासङ्खारपदवित्थार-कथावण्णना, पृ०, १२५९

९९. फलं हि यादृक् समवैति साक्षात् तदागमाद् बीजमवैत्यतीतम्। अवेत्य बीजप्रकृतिं च साक्षादनागतं तत्फलमभ्युपैति।। सौ०, १६.२३

१००. अविद्यापगमे सम्यक् संस्कारः क्षीयतेऽखिलः।। बु० च०, १४.८६

१०१. दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं। अयं वुच्चति अविज्जा। अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, सन्दर्भ संख्या, १, पृ०, १४३

१०२. अथवा तत्त्वेऽप्रतिपत्तिर्मिथ्याप्रतिपत्तिरज्ञानमविद्या। मध्यमकशास्त्रम्, द्वादशाङ्गपरीक्षा, पृ०, २४६

प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों को आच्छादित करने के कारण भी अविद्या है।[१०३]

अश्वघोष ने मुनि अराड के मत का उल्लेख करते हुये तम, मोह, महामोह तथा तामिस्रद्वय (तामिस्र तथा अन्धतामिस्र) को अविद्या कहा है। उनके अनुसार आलस्य तम, जन्म एवं मृत्यु मोह तथा काम महामोह है। महामोह के कारण बड़े-बड़े प्राणी काम में मूढ़ हो जाते हैं। क्रोध को तामिस्र तथा विषाद को अन्धतामिस्र कहा गया है। इस पाँच पर्व वाली अविद्या से युक्त होकर ही अज्ञ प्राणी इस दुःखबहुल संसार में पुनः-पुनः जन्म में डाला जाता है।[१०४] अश्वघोष के अनुसार निश्चय ही लोक की दृष्टि काम-मोह रूप तम से ढकी हुई है। इसीलिये महादुःख से निकलने का सच्चा मार्ग नहीं दीखता है।[१०५] बुद्ध नन्द से कहते हैं कि दुःख-सत्य को रोग, दोषों को रोग-निदान, निरोध-सत्य को आरोग्य तथा मार्ग-सत्य को औषधि समझो। सिर और वस्त्र के जलते रहने पर भी सत्य के समझने में अपनी बुद्धि को लगाओ, क्योंकि सत्य को नहीं देखने के कारण ही यह संसार जला है, संप्रति जल रहा है और जलेगा।[१०६] बुद्ध कहते हैं कि जब मुझमें ज्ञानात्मक दृष्टि विकसित हुई तब मैंने दुःख, दुःख का हेतु, निरोध एवं मार्ग (साधन) प्राप्त किये।[१०७]

ऊपरलिखित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त संसार में

---

१०३. तं अविन्दियं विन्दती ति अविज्जा। तब्बिपरीततो कायसुचरितादि विन्दियं नाम, तं विन्दियं न विन्दती ति अविज्जा। खन्धानं रासट्ठं, आयतनानं आयतनट्ठं, धातूनं सुञ्ञट्ठं, इन्द्रियानं अधिपतियट्ठं, सच्चानं तथट्ठं अविदितं करोती ति पि अविज्जा। दुक्खादीनं पीळनादिवसेन वुत्तं चतुब्बिधं अत्थं अविदितं करोती ति पि अविज्जा। अन्तविरहिते संसारे सब्बयोनि - गति - भव - विञ्ञाणट्ठिति - सत्तावासेसु सत्ते जवापेती ति अविज्जा। परमत्थतो अविज्जमानेसु, इत्थिपुरिसादीसु जवति, विज्जमानेसु पि खन्धादीसु न जवती ति अविज्जा। अपि च चक्खुविञ्ञाणादीनं वत्थारम्मणानं पटिच्चसमुप्पादपटिच्चसमुपन्नानञ्च धम्मानं छादनतो पि अविज्जा। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, १२०५

१०४. इत्यविद्यां हि विद्वान् स पञ्चपर्वां समीहते। तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च।। तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च। महामोहस्त्वसंमोह ! काम इत्येव गम्यताम्।। यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि। तस्मादेष महाबाहो महामोह इति स्मृतः। तामिस्रमिति चाक्रोधः क्रोधमेवाधिकुर्वते। विषादं चान्धतामिस्रमविषादः प्रचक्षते । बु० च०, १२.३३-३७

१०५. काममोहतमश्छन्ना दृष्टिर्लोकस्य वै ध्रुवम्। महादुःखविनिर्गन्तुं सन्मार्गं नानुपश्यति।। वही, १४.५१

१०६. तद्व्याधिसंज्ञां कुरु दुःखसत्ये दोषेष्वपि व्याधिनिदानसंज्ञाम्। आरोग्यसंज्ञां च निरोधसत्ये भैषज्यसंज्ञामपि मार्गसत्ये।। शिरस्यथो वाससि संप्रदीप्ते सत्यावबोधाय मतिविचार्या। दग्धं जगत्सत्यनयं ह्यदृष्ट्वा प्रदह्यते संप्रति धक्ष्यते च।। सौ०, १६.४१, ४३

१०७. यदा विकसिता दृष्टिर्मयि ज्ञानात्मिका तदा। दुःखं हेतुनिरोधश्च मार्गश्चाधिगतो मया।बु० च०, १५.५५

आवागमन की प्रक्रिया को समझाता है। प्राग्बौद्धकालीन साहित्य में इस सिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।[१०८] यह सिद्धान्त बौद्धधर्म में बुद्ध की मूल-देशना का अभिन्न अङ्ग है। बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार अनुलोम तथा प्रतिलोम रूप से किया था।[१०९] अश्वघोष ने भी इस सिद्धान्त का अनुलोम[११०] तथा प्रतिलोम[१११] रूप से उल्लेख किया है। अश्वघोष ने स्पष्ट किया है कि कोई भी वस्तु विना कारण के उत्पन्न नहीं होती है, अपितु प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण होता है। कार्यकारणभाव की व्यापकता का बोध अनात्मत्व का साक्षात्कार कराता है।[११२] अश्वघोष के मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त कर जब बुद्ध ध्यान से बाहर निकले तो उन्होंने लोकों में बाहर-भीतर कहीं भी आत्मा को नहीं देखा। उन्होंने निश्चय किया कि यह मैंने पूर्ण मार्ग प्राप्त किया है, जिस पर सत्य-अनृत को जानने वाले महर्षिगण परमार्थ के लिये चले थे। तदुपरान्त अनात्मवाद में अच्छी तरह स्थित होकर कार्य-कारण के तत्त्व को अच्छी तरह जानने वाले (मुनि) ने अत्यन्त शान्ति के निमित्त जगत् को (अपनी) बुद्ध दृष्टि से देखा।[११३]

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अभिधर्मकोशम्, प्रथमो भागः, लेखक : आचार्य वसुबन्धु, सम्पादक : स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८१

अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, लेखक : धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरयाणा, प्रथम संस्करण, १९८२

चतुःशतकम्, लेखक : आचार्य - आर्यदेव, सम्पादक-अनुवादक : डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, आलोक प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण, १९७१

दर्शन दिग्दर्शन, लेखक : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, पञ्चम संस्करण,

---

१०८. अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ०, १२२

१०९. पटिच्चसमुप्पादं अनुलोमपटिलोमं मनसिकासी ति। विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, पञ्ञाभूमिनिद्देसो, पटिच्चसमुप्पादकथावण्णना, पृ०, ११७७

११०. बु० च०, १४.५३-७९

१११. वही, १४.८०-८६

११२. अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ०, १२४

११३. इति ज्ञेयं विदित्वाऽसौ बुद्धो भूत्वा विनिर्ययौ। नान्तर्बहिश्च लोकेषु त्वात्मानं दृष्टवान् क्वचित्।। एष लब्धो मया मार्गः पूर्णो यस्मिन् महर्षयः। सत्यानृतविदश्चेरुः परार्थायेति निश्चितम्।। कार्यकारणतत्त्वज्ञः सुस्थितोऽनात्मवर्त्मनि। जगच्छान्त्यर्थमत्यर्थमपश्यद् बुद्धचक्षुषा। बु० च०, १४.८६-८८, ९८

१९८३

दीघ-निकाय, अनुवादक : राहुल सांकृत्यायन; जगदीश काश्यप, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, लखनऊ।

बुद्धचरितम्, प्रथमो भागः, लेखक : अश्वघोष, व्याख्याकार : महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, १९८३

बुद्धचरितम्, द्वितीयो भागः, लेखक : अश्वघोष, व्याख्याकार : महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९८३

बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, लेखक : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७८

बौद्ध संस्कृत काव्य-समीक्षा, लेखक : रामायण प्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध-प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७६

भारतीय दर्शन, लेखक : बलदेव उपाध्याय, पण्डित गौरी शङ्कर उपाध्याय प्रकाशन, जतनबर, बनारस, प्रथम संस्करण, १९४२

भारतीय दर्शन, लेखक : बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर प्रकाशन, वाराणसी, सप्तम संस्करण, १९६६

भारतीय दर्शन, लेखक : डॉ० ममता मिश्रा, कला प्रकाशन, बी ३३/३३, ए – १, न्यू साकेत कॉलोनी, नरिया, वाराणसी, १९९९

भारत में बौद्ध-निकायों का इतिहास, लेखक : श्रीनारायण श्रीवास्तव, किशोर विद्या निकेतन प्रकाशन, भदैनी, वाराणसी, १९८१

मध्यमकशास्त्रम्, लेखक : आचार्य नागार्जुन, टिप्पणीकार : आचार्य चन्द्रकीर्ति, मिथिलाविद्यापीठ प्रकाशन, दरभङ्गा, १९६०

विसुद्धिमग्गो, ततियो भागो, लेखक : आचार्य बुद्धघोसो, सम्पादको संसोधको च : डॉ० रेवतधम्मो, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७२

संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, लेखक : डॉ० मधु सत्यदेव, नीलकमल प्रकाशन, ।-११९, आवास विकास कालोनी, शाहपुर, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, १९९३

संस्कृत साहित्य का इतिहास, लेखक : डॉ० प्रीति प्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण, जनवरी, १९८७

संस्कृत साहित्य कोश, लेखक : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस,

वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७३

सौन्दरनन्द महाकाव्यम्, लेखक : अश्वघोष, संस्कर्ता तथा अनुवादक : सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पञ्चम संस्करण, १९८०

सौन्दरनन्द महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन, लेखक : डॉ० सुखबीर सिंह, निर्मल पब्लिकेशन्स, शाहादरा, दिल्ली- ९४, प्रथम संस्करण, १९९८

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१३७-१५२)

कालिदासकाव्येषु पर्यावरण-संरक्षण-चिन्तनम्

डॉ० प्रकाशचन्द्र पन्तः[१]

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' इति कालिदासकवेः सूक्त्यनुसारं भवाब्धावपारे सर्वैः मानवैः शरीररक्षणार्थं यतनीयमिति। जगत्यस्मिन् को वा सुखं न वाञ्छति। स एव मनुष्यः सुखी भवति, यः स्वस्थः भवति। अधिव्याधिरहितकायेन मनसा वा स्वस्थः कथ्यते। प्राणी तदेव सुखी स्वस्थः वा भवितुं शक्नोति, यदा तस्य पर्यावरणं शुद्धं शान्तञ्च स्यात्। अतो हेतोः पर्यावरणशुद्धिः संरक्षणञ्च परमावश्यकमिति।

यदस्मान् परितः आवृणोति, आच्छादयति, तदेव पर्यावरणं नाम। एतदन्तः पृथिवीतलम्, तदुपरि स्थितं जलं, वायुमण्डलं, वृक्षलता-पर्वत-नदी-वन्यप्राणिनश्च समाविष्टाः। सर्वे प्राणिनः भौतिकमिदं पर्यावरणं समाश्रित्यैव जीवनं धारयन्ति। इदञ्च पर्यावरणं मानवकृतघटनाभिर्विविधक्रियाकलापैर्वा प्रभूतं प्रभावितं भवति।

साम्प्रतं न केवलं भारते किञ्च निखिलेऽपि विश्वे नैकाः समस्याः समुत्पन्नाः दृश्यन्ते। क्वचिदातङ्कवादः, क्वचित् प्रदूषणम्, क्वचित् बम्बविस्फोटनैः मानवहिंसादयश्च। इदानीं सर्वे जनाः समस्यानां समाधानचिन्तने रतास्सन्ति। उपर्युक्तासु समस्यासु पर्यावरणसमस्या प्रमुखा वर्तते। यया प्रतिदिनं जनाः प्रभाविताः भवन्ति। अद्योद्योगशालाभिः जनसंख्या वृद्ध्या च नदीनां पवित्रं जलमपि प्रदूषितं जातम्। वनानि छिद्यन्ते, येन शुद्धवायुर्नोपलभ्यते। सत्स्वपि नैकेषु पर्यावरणघटकेषु जल-वायु-वनस्पत्यादय एव प्रमुखाः घटका भवन्ति। तत्रापि वनानां लतापादपादीनां भवति प्रमुखं स्थानं यतो हि पादपैरेव शुद्धजलं मिलति, तेषामभावे शीतल-निर्मल-जलस्याभावो भवति। पादपैरेव जीवनस्याधारभूतः प्राणवायुः दीयते। स्वमातपे स्थित्वा तरवः प्राणिनां सन्तापं हरन्ति। वृक्षा एव अस्मभ्यं पत्राणि, पुष्पाणि, मधुराणि फलानि, काष्ठानि च ददति। भारतीयपरम्परायां तु कदली-तुलसी-पिप्पल-वट-शमी-विल्ब-धात्री-आम्र-अशोक-उन्दम्बरादीनां तरूणां पूजनमपि क्रियते। तेन स्पष्टं भवति पादपानां महत्त्वं, भारतीयानां मनीषिणं कवीनां च पर्यावरणसंरक्षणचिन्तनम्।

मनुष्याः, जीवजन्तवः, पादपाश्च परस्परं घनिष्ठरूपेण सम्बद्धास्सन्ति। एकेन विनापरस्य जीवनं न सम्भवति। अतः पर्यावरणरक्षार्थं काननानां संरक्षणं परमावश्यकं भवति। एतस्मादेव कारणाद् पूर्वं भारतीयैः ऋषिभिर्मुनिभिश्चाश्रमाः काननेष्वेव संस्थापिता आसन्। अस्तु, वेदेषु वाल्मीकिरामायणादारभ्य पुराणसाहित्ये तथा चान्येषां संस्कृतकवीनां कृतिषु पर्यावरणसंरक्षणचेतनायाः वर्णनं समुपलभ्यते। तेषु संस्कृतकविषु कविकुलगुरुकालिदासस्य विशिष्टं स्थानं विद्यते। यथा महाकवेः कृतयः जगति प्रसिद्धाः सन्ति, तथैव तस्य

१. पूर्व शोधछात्र, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

पर्यावरणप्रकृतिवर्णनमपि सुप्रसिद्धमेव। महाकवेः सर्वासु रचनासु पर्यावरणसंरक्षणं प्रदूषणजन्यहानयश्च दृष्टिपथमायान्ति। अत्र तावत्प्रथमं कवेः विश्वप्रसिद्धे नाटके **'अभिज्ञानशाकुन्तलमिति'** नामधेये पर्यावरणसंरक्षणं पश्यामः-

अभिज्ञानशाकुन्तलम्-

पर्यावरणसंरक्षणस्य प्रकृतिप्रेम्णः च सर्वाधिकं सुन्दरं वर्णनं मया शाकुन्तले दृष्टम्, अतः प्रथममभिज्ञानशाकुन्तलस्येदं वर्णनं क्रियते। अत्र कविना प्रतिपादितमस्ति यत् पर्यावरणरक्षणर्थं वृक्षसिञ्चनं नित्यकर्मसु प्रमुखमासीत्। तत्राश्रमकन्यकाः स्वानुरूपसेचनघटैः बालपादपान् सिञ्चन्ति। **'राजा-एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैः बालपादपेभ्यो पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते।**[२]

अन्यत्रानुसूया शकुन्तलां कथयति यत्-**'हला शकुन्तले त्वत्तोऽपि तात कण्वस्य आश्रमवृक्षाः प्रियतराः सन्ति, येन नवमालिका कुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता'** सख्या वाचमिमां निशम्य शकुन्तला यद् वदति तेन महाकवेः पर्यावरणं प्रति जागरूकतायाः परिज्ञानं भवति। शकुन्तला न केवलं तात कण्वस्य नियोग एव, अस्ति मे सहोदरस्नेहोऽप्येतेषु।"[३]

अग्रे नाटकस्य नायिका भूषण प्रियाऽपि सती पादपानां पत्रमेकं नात्रोटयत्। सा खलु यावद् आश्रमस्थान् तरून् न सिञ्चति, तावत् न स्वयमपि जलं पिबति। वृक्षेषु पुष्फलोद्गमे यस्याः महानुत्सवो भवति। अनेन हृदयावर्जकेन प्रकृतिप्रेमवर्णनेन प्रकृतिकवेः पर्यावरणचेतनैव प्रस्फुटिता भवति। कण्वः कथयति-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माष्वपीतेषु या
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः।
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[४]

शकुन्तलायाः पतिगृहगमनसमये शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवनः कल्याणं कुर्यादिति कामना कृता दृश्यते-

रम्यान्तरः कमलिनीहिरितै सरोभिः
छाया द्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापाः।
भूयात् कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः

---

२ अभि० शा० १-४५

३ अभि०शा०प्र०

४ अभि० शा० ४/९

शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥[५]

शकुन्तलायाः अव्याजमनोहरवपुषि प्रमुग्धो राजा दुष्यन्तः तां शकुन्तलां दुष्करतपस्यायां नियोक्तारं कण्वमसाधुदर्शीति चिन्तयन्, तस्याः सौन्दर्यपानं कर्तुं वृक्षस्य पृष्ठतः तिष्ठति, शकुन्तला वदति सखीं प्रति-**'यदेष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः प्रतिभाति'**[६] किमर्थं त्वरयति वृक्षः ? सख्यौ शकुन्तलां वदतः यत् **'हला शकुन्तले अत्रैव तावन्मुहुर्त्तं तिष्ठ यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इव केसर वृक्षकः प्रतिभाति'**[७] अत्रापि कवेः पादपमानवयोः परस्परं प्रगाढः सम्बन्धोऽस्तीति ज्ञापितम्।

इत्थं मानवाः यदि पादपैः सह बन्धुत्वभावनया स्थास्यन्ति चेत् कदापि पर्यावरणसमस्या नैव भवितुमर्हति। पुनरग्रे च शकुन्तला लतयोस्तादात्म्यं सजीववर्णनं कविरनुसूयामुखेन चित्रयति-**'अनुसूया कथं त्वं वनज्योत्स्नेति नाम कृतायाः लतायाः सिञ्चनं विस्मरति?'**[८] तदा शकुन्तला तामुत्तरयति-**'तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि, हला रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः।'**[९]

अग्रे पुनः शकुन्तला वनज्योत्स्ना नाम लतया सह वार्तालापं कुर्वन्ती प्रकृतिप्रेम प्रदर्शयति- **'वनज्योत्स्ने चूतसङ्गतापि मां प्रत्यालिङ्गत्त इतोगताभिः बहुशाखाभिः अद्य प्रभृति दूरवर्तिनी ते भविष्यामि।'**[१०]

वन ज्योत्स्नालताशकुन्तलयोः निर्विशेषं भगिनीत्वं कालिदासस्य पर्यावरणचिन्तनं च कण्वस्य कथनेनानेन प्रमाणितं भवति यत्-

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि च सम्प्रतिवीतचिन्तः॥[११]

शकुन्तलायाः गमनसमये न केवलं तपोवनवासिनाः दुखिताः, अपितु तत्रत्याः जीवजन्तवोऽपि भृशं दुखमन्वभवन्, तत्र प्रियंवदा कथयति-

'उद्गलितदर्भकवलाः मृगाः परित्यक्तनर्तनाः मयूराः।

---

५ अ०शा० ४-११

६ अभि०शा० प्रथम

७ अभि०शा० प्रथम

८ अभि०शा० प्रथम

९ अभि०शा० प्रथम

१० अभि०शा० चतुर्थ

११ अ०शा० ४/१३

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रुणीव लताः॥[१२]

पर्यावरणसंरक्षणे यज्ञस्य महत्त्वमपि न्यूनतरं नास्ति। अतः कालिदासरचनासु यज्ञादिवर्णनं प्रायशः सर्वत्र मिलति, शाकुन्तले यथा-

'सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते, वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।[१३]

पर्यावरणशुद्धतायै सन्तुलनाय च वन्यजीवानामपि पशूनां वा महत्त्वपूर्णं योगदानं भवति, अतस्तेषां संरक्षणं परमावश्यकं भवति। कालिदाससस्य शाकुन्तले द्विप-सिंह-गो-मृगादिपशूनां संरक्षणेन। हिंसायाः पर्यावरणस्य च सन्देशः प्रदत्तो वर्तते-

'भो भो राजन्! आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।'[१४] एकत्र राजा दुष्यन्तः कथयति शकुन्तलया सः कालं यापितवन्तं मृगं हन्तुं मम धनुः न चलतीव यथा-

न नमयितुमधिज्यमास्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।

सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥[१५]

शकुन्तला मृगशावकं पुत्रवत् स्निह्यति तस्य सजीवं हृदयस्पर्शी वर्णनं कविना कृतमस्ति। पद्यं दृष्टव्यम्-

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥[१६]

इत्थमभिज्ञानशाकुन्तले नैकेषु स्थलेषु कवेः मार्मिकशब्देषु पर्यावरणसंरक्षिकायाः शकुन्तलायाः उदात्तं चरित्रं वर्णितं दरीदृश्यते।

रघुवंश महाकाव्यम्

सुप्रथभिदं महाकवेः महाकाव्यं रघुवंशं नाम। अस्मिन् महाकाव्ये सूर्यवंशीयनृपाणां वर्णनं वर्तते। द्वितीये सर्गे सः राज्ञः दिलीपस्य गोसेवायाः हृदयावर्जकं वर्णनमुपस्थापयति। राजा दिलीपः वशिष्ठाश्रमे सपत्नीकः निवासं कुर्वन् वशिष्ठधेनोर्नन्दिन्याः सेवकत्वेन प्रत्यहं वनं गच्छति स्म। तत्र केचित्तरवः त्रिविधं वायुं सञ्चार्य तस्य राज्ञः तापं हरन्ति, तद्यथा-

---

१२ अ०शा० ४२१२

१३ अ०शा० ३/२३

१४ अभि०शा०प्रथम

१५ तत्रैव २/३

१६ तत्रैव ४/१४

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहा कम्पितपुष्पगन्धी।

तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे॥[१७]

केचिच्च वृक्षाः वनदेवताभिः राज्ञः यशोगाने साहाय्यं कुर्वन्ति, पद्यमेकं यथा-

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।

शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥[१८]

वनेधेनु सेवारतस्य राज्ञः दिलीपस्य श्रद्धां भक्तिञ्च विलोक्य पादपाः तस्य गुणगानं कुर्वन्ति, यथा-

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमा पाशभृता समस्य।

प्रदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥[१९]

भारतीयसंस्कृतौ गोसेवायाः महत्त्वं सर्वैः स्वीक्रियते। अधुनाऽपि यत्र तत्राश्रमेषु गवां सेवा भवति, गोशालाः स्थाप्यन्ते। तथैव वृक्षारोपणकार्यक्रमा अपि सर्वकार पक्षतोऽपि सञ्चाल्यन्त एव। तत्रैव कविर्लिखति यद् वायुना प्रेरिताः पादपाः दिलीपस्य स्वागतं कर्तुं पुष्पवृष्टिं कुर्वन्ति।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।

अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥[२०]

कालिदासः न केवलं शकुन्तलाया एव वृक्षेषु पुत्रवत् स्नेहस्य वर्णनं करोति, अपितु रघुवंशेऽपि यदा सिंहो नन्दिन्यारुपरि आक्रमणं करोति, तदा राजा तं प्रार्थयति, स च राजानं प्रति कारणं वदति, यत् पुरतः स्थितममुं देवदारुतरुं त्वं पश्यसि ? यो हि मात्रा पार्वत्या स्वयं जलसेचनेन पुत्रवद् पालितो वर्तते। न तावदेवापितु कदाचित् तस्य वृक्षस्य वन्यद्विपैः गलघर्षणेन त्वचि उन्मथितायां सा पार्वती माता तथैव दुःखमनुभूतवती यथाऽसुराणामस्त्रैस्तनयस्य कार्तिकेयस्य विक्षतं वपुः विलोक्य तदा प्रभृत्येव वन्यद्विपै रक्षार्थं पर्वतगुहायामस्याहं नियुक्त इति, अनेन व्याजेन महाकविः पादपानां रक्षार्थं सर्वैः कटिबद्धैर्भवितव्यमिति सन्देशं ददाति। तथाहि-

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्री कृतोऽसौ वृषभध्वजेन।

यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥[२१]

तथा च-

---

१७ रघु० २/१३

१८ तत्रैव २/१२

१९ तत्रैव २/०९

२० तत्रैव २/१०

२१ रघु०२.३६

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद् वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।

अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः॥[२२]

अनेनोपर्युक्तेन वर्णनेन **'दश पुत्र समो द्रुमः'** इति सूक्तिः पूर्णरूपेण चरितार्था दृश्यते महाकवेः काव्येषु। शकुन्तलापार्वत्योः वृक्षेषु तावान् स्नेहः कालिदासस्य पर्यावरणसंरक्षणचेतनैव वर्तते, नान्यत् किम्बहुना। पर्यावरणे जलतत्त्वस्य भवति विशिष्टं महत्त्वम्। तेनैव सर्वे प्राणिनः जीवन्ति। अद्यतनीयां जलप्रदूषणसमस्यां वयं सर्वे जानीम एव लखनऊ-दिल्ली-नगरयोः यमुनायाः जलं बहुकालपर्यन्तं द्रष्टुमपि न शक्यते, पानस्य तु का कथा। वस्त्रप्रक्षालनार्थमपि तज्जलमनुपयुक्तं भवति। तयोरेव गङ्गयमुनयोर्पवित्रतां संरक्षितुं कविः कथयति यत् यस्तयोः समुद्रपत्न्योः जले स्नानं करोति सः विना तत्त्वबोधेनापि संसार सागरं तरतीति-

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्रकिलाभिषेकात्।

तत्त्वाववबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्तिशरीरबन्धः॥[२३]

अत्रापि वन्यजीवपालनस्य, यज्ञस्य च वर्णनमायाति। यज्ञकार्यार्थं गोमूत्र-गोमय-दुग्ध-दधि-घृतादीनामावश्यकता भवति। अतः गुरुणा वशिष्ठेनाश्रमे धेनुः पालिता। तस्याः धेनोः सेवां श्रद्धाभावनया कुर्वन् राजा दिलीपः आदिनं वने अटति। यदा सा धेनुश्चलति तदा राजा चलति यदा तिष्ठति तदासौ तिष्ठति यदा धेनुर्जलं पिबति तदैवासावपि जलं पिबति। एवं प्रकारेण छायेव सः भूपतिः गामन्वगचछत्। कालिदासेनानेन व्याजेन सर्वेषाङ्कृते सन्देशः प्रदत्तो वर्तते। यद्राजा सन्नपि सः धेनो सेवामकरोत्। अतः प्रजयापि धेन्वादिपशूनां पालनं पोषणं च करणीयमेव। तनैव यज्ञसाधनं सम्भवति पद्यमिदं द्रष्टव्यम्-

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।

जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥[२४]

एतदतिरिच्य कालिदासेन रघुवंशे वान्येषु ग्रन्थेषु शुक-पिक-चकोर-मराल-प्रभृति पक्षिणामपि यथास्थानं वर्णनं कृतमेव।

कुमारसम्भवमहाकाव्यम्

कुमारसम्भवेऽपि तत्र पञ्चमे सर्गे महाकविना पार्वत्याः वृक्षान् प्रति वात्सल्यं पुत्रादपि समधिकः प्रदर्शितः। तत्र कविवरः पुनः वृक्षारोपणस्य सन्देशं ददाति। घटैः सिञ्चितेषु पादपेषु पार्वत्याः प्रेम

---

२२ रघु. २/३७

२३ तत्रैव १३/५

२४ तत्रैव २/६

पुत्रप्राप्त्यनन्तरमपि यथावत् आसीत्। यथा–

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।

गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति।।[२५]

तत्रैव पुनः कालिदासः शाकुन्तलमिव पशुप्रेम वर्णयन् लिखति–पार्वत्या ते हरिणा अरण्यबीजानि दत्त्वा पालिताः, ते सदैव तस्या पार्श्वे विचरणं कुर्वन्ति स्म। पशुसंरक्षणस्यानुपममुदाहरणमिदं वर्तते–

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणाः विशश्वसुः।

यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने।।[२६]

एवञ्च नित्यहोमकर्मणा प्रकृतिप्रेम्णा च तत् तपोवनं पावनमभूदिति–

विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।

नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम्।।[२७]

अत्रापि गङ्गादिनदीनां पावनत्वं रक्षितुं कविना वर्णितमस्ति यद् गङ्गाजलं पवित्रं कल्याणप्रदं भवति। यतोहि ततः एव गङ्गादिनद्यो निर्गच्छन्ति, तत्र नैका वनस्पतयः ओषधयश्च जायन्ते। कविः तमचलपदार्थानां विष्णुः कथयति–

स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथाहि ते।

चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः।।[२८]

पार्वत्या सह रममाणस्य महेश्वरस्य कैलाशपर्वतात् मलयपर्वते गते सति दाक्षिणानिलः पार्वत्याः कथं सेवां करोति–**आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकारा इव दक्षिणानिलः।**[२९]

वैदिक परम्परामनुपालनयन् कविः यज्ञस्य महत्त्वं वर्धयन् स्वकीयासु सर्वासु कृतिषु यज्ञ–सन्ध्या–जप–तप–दान–दयादि–कर्मणां वर्णनमवश्यमेव करोति। याभिः सामाजिकं सांस्कृतिकं मानसिकं च पर्यावरणं सुष्ठु भवति–

आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः।

---

२५ कु०स० ५/१४

२६ तत्रैव ५/१५

२७ तत्रैव ५/१७

२८ तत्रैव ६/६७

२९ तत्रैव ८/२५

आश्रमाः प्रविशदग्निधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः॥[३०]

अनेनोपर्युक्तेन वर्णनेन स्पष्टं भवति यदाश्रमेषु गोशाला वाटिकोद्यानानि भवन्ति स्म। यत्र मृगाः निर्भयाः भूत्वा विचरमाणाः भवन्ति। स्वयं गङ्गानदी द्वारा वृक्षसिञ्चनस्यानुपममुदाहरणं तत्र कविनोपस्थापितमस्ति। यदोमया स्वपित्रा दक्षेन, कृतमहादेवस्यापमानेन क्रोधवशाद् यज्ञाग्नौ प्राणत्यागः कृतस्तदा शिवः सर्वमपि जगत्प्रपञ्चं परित्यज्य कस्तूरीगन्धसुवासितं हिमालयस्य तस्मिन् शिखरे तपस्तप्तुं जगाम, यत्र भगवती भागीरथी स्वयं देवदारुवृक्षान् स्वपवित्रजलेन सिञ्चति।

सकृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षित देवदारु।

प्रस्थं हिमाद्रेमृगनाभिगन्धि किञ्चित्क्वचित्किन्नरमध्युवास॥[३१]

नन्दनवनै राक्षसैः वृक्षछेदनस्य निन्दनं कुर्वन् कविः लिखति '**अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः।**'[३२]

यज्ञस्य वर्णनं कुर्वन् कविः लिखति यद् यज्ञधूमेन वातावरणं निर्मलं जायते। यतोहि होमसामग्री विविध वनस्पतीनां संयोगेन निर्मीयते-

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद् वदनं निनाय।

कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्त्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥[३३]

एवं कुमारसम्भवे वर्णितं पर्यावरणविषयकं साधु प्रेरकञ्च वर्णनं न्यूनमिव साम्प्रतं लाभाय भवेदिति।

मेघदूतम्

महाकवेः मेघदूतं विश्वप्रसिद्धमस्ति तत्र कृतपर्यावरणरक्षण-पर्यावरणप्रदूषणस्य वर्णनं नातिविस्तरेणात्र लिख्यते- वायुसमस्तजीवधारिणां कृते परमावश्यकोऽस्ति। पृथिव्यां मानवाः ऑक्सीजन इति गृह्णन्ति कार्बनडाई आक्साइड इति बर्हिनिष्कासयन्ति, सर्वविदितमिदं वर्तते। वृक्षास्तद्विपरीतं कार्बनडाई आक्साइड इति स्वीकृत्य, जीवनोपयुक्तम् आक्सीजन बहिर्निष्कासयन्ति। वनानां वृक्षाणां छेदनेन वायौ कार्बनडाई आक्साइडेति वर्धते। तेन ताप वृद्धिर्भिवति। मन्ये इति विचिन्त्यैव कालिदासेन वनस्पतीनां संरक्षणस्योल्लेखो यत्र तत्र कृतो विद्यते।

मेघदूते कविः अग्निना वनेषु जायमानां हानिर्मनसि निधाय मेघं कथयति यद् हिमालयवनेषु प्रचण्डवायुना देवदारुवृक्षाणां परस्परघर्षणेन वने यदि अग्निं (दावानलं) द्रक्ष्यसि तर्हि तत्प्रशमनं त्वया

---

३० तत्रैव ८/३९

३१ तत्रैव ५/५४

३२ कुमा० २-४१

३३ तत्रैव ७/८१

करणीयमिति-

'तं चेद वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्।।[३४]

मेघवृष्टिर्द्वारा पृथिव्याः प्रजननशक्तिवर्धनस्य (उर्वराशक्तिः) वर्णनमपि द्रष्टव्यम्-

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आ कैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।।[३५]

पृथिव्यामेव कृषिः भवति। तेनोत्पादितेनान्नेनैव वयं जीवामः, तच्चान्नं जलेन विना न सम्भवति। अतः महाकविः मेघदूते यक्षमाध्यमेन वर्णयति- हे मेघ! सर्वमपि कृषिफलं तवाधीनं वर्तते। अतस्त्वया तत्तत् कृषिक्षेत्रेषु वृष्टिः करणीया-

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित् पश्चात् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण।।[३६]

वनानामग्निं शमयितुं कथं जनैरस्माभिर्वा जागरूकैर्भवितव्यम्। यक्षो मेघं वदति यत् हे जलद! यदा त्वमाम्रकूटं प्राप्स्यसि तदा जलवृष्टिं कृत्वाम्रकूटस्य वनानां दावानलं शमयेः, यतोहि यदि श्रद्धया कस्यचिदुपकारः क्रियते तर्हि सोऽपि खलूपकर्तुः समादरं करोति-

अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलदशिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्निं

---

३४ मेघ०पूर्व ५३

३५ पूर्वमेघ ११

३६ तत्रैव १६

सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारी महत्सु॥[३७]

पूर्वकृतवर्णनमिव मेघदूतेऽपि पुत्रवत् पालितस्य वृक्षस्य वर्णनं कालिदासः करोति- यक्षः अलकापुरीं प्राप्तवन्तं मेघं कथयति हे मेघ! तत्रैव कुबेरोत्तरदिशायां मदीयं सुन्दरं दूराल्लक्ष्यं गृहमस्ति। तत्रैकः मन्दारवृक्षः वर्तते, यो हि मम पत्न्या पुत्रवत् पालितोऽस्ति-

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥[३८]

उत्तरमेघे कविना न केवलं पर्यावरण्स्य प्रमुख घटकानां पृथिवी-जल-वायु-पादपानां वर्णनं न कृतम् अपितु तेषामुपयोगिताऽपि सुचारुतया वर्णिताऽस्ति। द्रष्टव्यं पुष्पलतानामुपयोगः- यक्षः मेघं प्रति हे मेघ! तत्रत्याः कुल वधूट्यः हस्तायो कमलाभूषणानि शिरसि कुन्दपुष्पाणि कर्णयो शिरीष पुष्पं, वर्षाकाले पुष्पितानि कदम्ब पुष्पाणि सीमन्ते च धारयन्ति। मुखे लोध्रपुष्परागो विलेपयन्ति।

हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥[३९]

इत्थं मेघदूते विविध प्रकारैः कविना पर्यावरणतत्त्वानां वर्णनं कृतमास्ति यद्धि अद्भुतं वर्तते।

ऋतुसंहारः

ऋतुसंहारण्येऽपि कविना विविधवृक्षपुष्पाणां सुन्दरं वर्णनं कृतमस्ति। तत्र कविः कथयति यत् कुसमुमाधिवासितः शीतलमन्दपवनः कं नोत्कण्ठयति-

कदम्बसर्जार्जुननीपकेतकीर्विकम्पयँस्तत्कुसमाधिवासितः।
ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम्॥[४०]

---

३७ तत्रैव १७

३८ मेघ० ७३

३९ तत्रैव ६४

४० ऋतु० २/१७

जलं जीवनस्यं मुख्यं तत्त्वम्। मनुष्यस्य शरीरे ६० प्रतिशत जलं भवति। समुद्रजलेन मेघो वर्षति। साम्प्रतं तु जलप्रदूषणं महती समस्या वर्तते। मानवकृतविविधकारणैरुत्तराखण्डस्य हिमालयात् प्रवहन्ती भागीरथी अपि महानगरेषु प्रदूषिता भवति, तत्र तज्जलं पातुं न शक्यते। दिल्ली-मुम्बई-कलकत्तादि-महानगरेषु पेयजलस्य न्यूनतामनुभवामो वयम्। साम्प्रतं दिल्लीमध्ये तु पथिकैः क्रीत्वा जलं पीयते। विषयेऽस्मिन् भारतीयाः चिन्तकाः मनीषिणः कवयश्च पूर्वत एव जागरूकाः दृश्यन्ते। तत्र कालिदासः प्रावृषं प्राणभूतं मत्वा लिखति यत्-वृक्ष-लता-गुल्मादीनां स्वाभाविकबन्धुः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः जलप्रदाता प्रावृट् कल्याणप्रदो भूयात्-

बहुगुण रमणीयः कामिनां चित्तहारी

तरु-विटप-ल[४१]तानां बान्धवो निर्विकारः।

जलदसमय एषः प्राणिनां प्राणभूतो

दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि॥ ऋतु० २/२९

नूतनोद्गतकुसुपल्लवैः सुशोभितानि वनानि कथं जनानां चैतांसि हरन्ति-

तृणात्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः।

वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवद्रुमैः॥[४२]

मेघदूतमिवात्र ऋतुसंहारेऽपि वनेषु दावानलेन (अग्निना) वा कथं वृक्ष-लता-गुल्म-तृणादीनां मृगादि-वन्यपशूनां हानिर्भवति। अनेन स्फुटीभवति यत् कालिदासः पर्यावरण घटकानां रक्षणार्थमपि कटिबद्ध आसीदिति। यत्र दावानलो भवति तत्र पशवः पलायन्ते।

विकच-नवकुसुम्भ-स्वच्छ-सिन्दूरभासा

प्रबल-पवन-वेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।

तट-विटप-लताग्रालिङ्गन-व्याकुलेन

दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन॥

ध्वनति पवनविद्धः पर्वतानां दरीषु

स्फुटति पटुनिनादः शुष्कवंशस्थलीषु।

प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन।

---

४१ ऋतु० २/१७

४२ तत्रैव २/८

ग्लपयति मृगयूथं प्रान्तलग्नो दवाग्नि:।।[४३]

प्रदूषितस्य कीटरजतृणान्वितस्य पीतवर्णयुक्तस्य जलस्य वर्णनं कुर्वन् कवि: जलप्रदूषणं सङ्केतयति भुजङ्गगतिवत् मण्डूकै: निरीक्षितं नवोदकं प्रयाति–

विपाण्डुं कीटरजस्तृणान्वितं भुजङ्गवद्वक्रगतिप्रसर्पितम्।

ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम्।।[४४]

वर्षर्तौ भूमे: सजीवतां वर्णयति कवि:। तदा नदीषु जलं वर्धते, सिंचितं वनप्रदेशं कदम्बपुष्पै: प्रफुल्लितमिव प्रतीयते, पवनप्रकम्पितशाखाभि: नर्तमानं, केतकीपुष्पैश्च हासमानमिव प्रतीयते–

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पै: समन्तात्-

पवनचलितशाखै: शाखिभिर्नृत्यतीव।

हसितमिव विधत्ते सूचिभि: केतकीनां

नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्त:।।[४५]

वनस्पति पुष्पादीनामुपयोगित्वं पुन: कवि: वर्णयति यत् ललना: शिरसि कदम्बपुष्पं नवीनपरागयुक्तां केतकीपुष्पमालां, कर्णयोरर्जुनमञ्जरीणामलङ्कारान् धारयन्ति–

माला: कदम्ब-नव-केसर-केतकीभिरायोजिता शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य।

कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभि: श्रोत्रानुकूलरचितानवतंसकाँश्च।।[४६]

प्रदूषण रहितं पवनप्रवाहं वर्णयति साम्प्रतं–

आकम्पयन् कुसुमिता: सहकारशाखा: विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।

वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते।।[४७]

महाकवेर्महती पर्यवेक्षणशक्ति: प्रसादगुणयुक्ता वर्णनचातुरी च समेषां चेतांसि नितरामाह्लादयति। तस्य प्रकृत्या सह संवेदना भारतीयप्राकृतिकदृश्यानां च तद्विषदवर्णनं यथा काव्येनानेन स्फुटीक्रियते नाम न तद् ग्रन्थान्तरेण केनचित्। विविधर्तूनामागमनेन प्रकृते: बाह्यस्वरूपे विचित्रा नवीनता समायाति तस्यैव मनोहारि

---

४३ ऋतु० ग्री०/२४,२५

४४ ऋतु० २/१३

४५ ऋतु० ०२/२३

४६ ऋतु० २/२०

४७ ऋतु० ६/२२

वर्णनम्-

द्रुमाः सुपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते।।[४८]

विक्रमोर्वशीयम्-

पृथिवी सर्वानाश्रयं ददाति, जलमन्नं खनिजतत्त्वानि च भूमावेव भवन्ति। **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** इति वेदवाक्यानुसारं पृथिव्या अङ्के एव वयं क्रीडामो नृत्यामो विहारामः। अतो भूमेः शुद्धता पवित्रता चास्माकं कर्तव्यं भवति। पृथिव्यां कलुषितधूलिनाऽयं सामान्यरूपेण वायुः प्रदूषितो भवति। अत्यधिकधूलिकणै रजोभिर्वा मेघा अपि विरलाः भूत्वा वृष्टिं प्रभावयन्ति। तस्यैव वर्णनं मन्ये प्रकारान्तरेण महाकविना कालिदासेन विक्रमोर्वशीये कृतमस्तीति। पद्यं द्रष्टव्यम्-

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्।।[४९]

वर्षर्तौ प्रायः पर्वतीयभूभागेभ्यो मृत्तिकामिश्रणेन जलप्रदूषणं सञ्जायते। गङ्गाप्रभृति पवित्रपुण्यनदीनामपि वारि मलिनमृत्तिकादिभिः कलुषितं भवति। परं पुनः सततप्रवाहकारणात् निर्मलमेव भवति। अस्मिन् पद्ये चित्रलेखां सम्बोधयन् राजा कथयति-

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेन रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।।[५०]

एकत्र शाकुन्तलमिव वसन्तशोभां वर्णयन् कविः लता पादपानां विशेषं चित्रणं करोति-

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो

---

४८ ऋतु० ६/२
४९ विक्रमो० १/०५
५० तत्रैव १/०९

रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।

ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी

मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता।।[५१]

विक्रमोर्वशीयेऽपि सायंप्रातः होमकर्मणः जप-तप-सन्ध्यादिकर्मणां प्राधान्यं दृष्टिपथमुपैति, येन मानसिकं चाध्यात्मिकं पर्यावरणं स्थिरं भवति। तत्र कञ्चुकी-'**आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या व्रतसम्पादनार्थं मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः। तदेव त्वं मद्वचनाद् विज्ञापय। यावदहमिदानीमवसित सन्ध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि-** इह हि-

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशा निद्रालसा बर्हिणो

धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः।

आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः

सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः।।[५२]

एवमत्रापि पूर्ववद् वृक्ष-वन-पर्वत-नदी-वायु-यज्ञ-जप-तप-सन्ध्यादीनां पर्यावरणसंरक्षणे योगदानं वर्णितमिति।

मालविकाग्निमित्रम्

महाकविः क्वचित् स्वच्छपर्यावरणस्य क्वचिच्च प्रदूषणस्य वर्णनं करोति। तत्र पुनः मालविकाग्निमित्रनाटके अग्निमित्रस्य प्रमदवने समागतस्य वसन्तस्य रम्यं वर्णनं करोति। तस्मिन् समये पुष्पान्वितैर्तरुभिर्पवनः सुरभितो भवति, तस्य च सुखदस्पार्शमनुभूय राजा वसन्तम् 'अभिजातेति' विशेषणेन सम्बोधयन् कथयति यत् मित्र! समागतः अभिजातः खलु वसन्तः, सखे! पश्य-

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां

सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।

अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे

सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन।।[५३]

अत्रापि शाकुन्तलमिव प्रकृतिप्रेम प्रदर्शितं कविकुलगुरुणा। प्रकृतेः सजीवं वर्णनं कुर्वन् विदूषकद्वारा

---

५१ तत्रैव २/७

५२ तत्रैव ३/२

५३ मालविका ३/४

कविः विज्ञापयितुमिच्छति यत् वनानीमानि खलु मानवस्य जीवनाय अत्यावश्यकानीति। यतोहि वनेभ्यो मानवाः विविधान् पदार्थान् प्राप्नुवन्ति। विदूषको राजानं प्रति-**'महाराज नन्वेतत्प्रमदवनं पवनबलचलाभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम्।'**[५४]

मन्ये कालिदाससमये वायुप्रदूषणं तथा नासीत्, यथाऽद्य प्रपीडयति जनान्, वाहनोद्योगशाला धूमेन साम्प्रतं वायुप्रदूषितो वर्तते। लतापादपकर्तनेन च सामान्यपवनोऽपि दुर्लभो दृश्यते, सुगन्धितमनिलं कुतः।

पादपानां सिञ्चनादिना संरक्षण संवर्धनञ्च कविना चारुतया सर्वत्र वर्णितं दरीदृश्यत एव। वृक्षारोपणस्य विचित्रं चित्रमुपस्थापयति महाकविः। यथा शाकुन्तले नाटके शकुन्तला, कुमारसम्भवे पार्वती, मेघदूते च यक्षपत्नी च पुत्रवत् पालितानारोपितान् वृक्षान् सिञ्चन्त्यः वर्णिताः तथैवात्र मालविकाग्निमित्रे देवी वृक्षान् सिञ्चन्ती वर्णिताऽस्ति। अनेनेदं स्पष्टं भवति यत् कालिदासः वृक्षारोपणकार्यक्रमस्य समर्थकत्वेन पूर्वमेव तत्संदेशं दत्तवान् इति। यथा-

प्रतिहारी-आज्ञप्तोऽस्म्यशोकसत्कारव्यापृतया देव्या, विज्ञापयार्यपुत्रम्! इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुमिति। तद्यावद् धर्मासनगतं देवं प्रतिपालयामि।[५५]

अग्रे राजा सव्रीडमशोकवृक्षमभितः परिक्रमन् कृतपूर्वामशोकसत्कारां सम्बोधयन् वदति देवि! त्वयाशोकवृक्षे सत्कारप्रदर्शनं करणीयमेव, यतोहि वृक्षोऽयं माधवश्रीनियोगे पुष्पैः तवादरं करोति यथा-

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्कारणामीदृशानामशोकः।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पै शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने॥[५६]

एवं सर्वत्र वृक्ष-लता-पादप-पर्वतानां संरक्षणस्य हृदयावर्जकवर्णनेन कविना पर्यावरणसंरक्षणस्यैव सन्देशः प्रदत्तो वर्तते। पर्यावरणसमस्या साम्प्रतिके काले महती समस्या सञ्जाता अस्ति। जिजीविषा मानवानां प्राणिनां वा अधिकारो वर्तते। तामेव जिजीविषां पूरयितुं प्रकृतावनन्तो भण्डारो वर्तते। प्राणिषु मानवः सर्वश्रेष्ठः बुद्धिमान् चाऽस्ति। असौ स्वावश्यकता पूरयितुं प्रकृतेरविवेकपूर्णं शोषणं करोति। फलतः पर्यावरण संघटकानां (भूमि-वायु-जलादीनां) गुणवत्तायां न्यूनता जायते। तस्याः ह्रासो वा भवति। तदेव पर्यावरणप्रदूषणनाम्ना अभिधीयते।

वैदिक साहित्येऽपि पर्यावरणस्य स्पष्टं स्वरूपं दृश्यते। सहैव लौकिककविभिः प्रकृतौ देवतानां कल्पना कृता। तत्र सूर्यस्यानुकूलतापस्य मेघस्यानुकूलवृष्टेः, वनस्पतिभ्यः स्वानुकूलसंरक्षणस्य कामना पर्यावरणचिन्तनमेव

---

५४ तत्रैव अंक ०३

५५ मालविका पञ्चमांक

५६ मालविका ५/८

प्रकाशयति। तत्र भूमिः मातृत्वेन मानिता।

साम्प्रतं पर्यावरणे वर्धितेन धूमादिना 'कार्बनडाई आक्साइड' इत्यस्य मात्राऽपि वर्धिता। तेनोषरभूमिः, भूक्षरणं च जायते। एतयोर्निवारणार्थं वनानां संरक्षणं, वृक्षारोपणमेव उपायोऽस्ति। यस्य संकेतः कालिदासेन स्थाने स्थाने दत्तः।

महाकवेः कालिदासस्य चतुर्षु काव्येषु, त्रिपु नाटकेषु च पर्यावरणसंरक्षणचेतना पदे पदे वर्णिता दरीदृश्यते। कालिदासः पर्यावरणं संरक्षितुं सन्तुलननिर्माणाय च विविधोपायान् वर्णितवान्। यथा–

१. जल प्रदूषण समस्यामपाकर्तुं पवित्रनदीनां सर्वैः रक्षणमवश्यमेव करणीयम्, तेन देशे पेयजलसमस्या न भविष्यति।

२. वायुप्रदूषणं निवारयितुं सर्वैः यज्ञः करणीयः। तेन वायोः शोधनं भवति। यज्ञे रोशनाशकपदार्थानाम् आहुतिर्दीयते।

३. **जैविक**= जीव-जन्तु-मानव-वृक्षादयः, अजैविक=वायु-जल-मृत्तिकादीनां सन्तुलनं निर्मातुं वन्य-जीव-संरक्षणं परमावश्यकं भवति। तेन सहैव मानसिक-सामाजिक-पर्यावरणं रक्षितुं चरित्र आचारादीनां पवित्रताऽपि परमावश्यकी भवति। तदैव सर्वत्र शान्तिः भवितुं शक्नोति।

अतः उपर्युक्तानां समस्यानां समाधानार्थं कालिदाससाहित्ये वर्णितोपायाः नूनमेवोपादेया इति वक्तुं शक्यते।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१५३-१६९)

कालिदास की करुणा

महावीर नीर विद्यालङ्कार[१]

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती ॥[२]

हिन्दी साहित्य के महाकवि जयशंकर प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियाँ करुणा की विकल रागिनी का गान गा रही हैं। यह वह स्वर है, वह दर्द है जो हृदय के पर्दों को हटाकर जब उसके अन्दर प्रवेश कर जाता है तो एक करुणिम संसार की सृष्टि कर जाता है।

वस्तुतः संसार का अधिकतम साहित्य जीवन के तरल क्षणों की देन है। आदि कवि (वाल्मीकि) ने बाणविद्ध क्रौञ्च मिथुन को देखा और अनायास ही कह उठे-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीत् काममोहितम्।।[३]

मनुष्य की हृद्तन्त्री के तारों को झंकृत करने वाला कोई भी भाव न जाने कब करुणा की विकलरागिनी में परिणत हो जाए, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। वह वाक्य ही क्या जो हृदय के पार होकर सिर को न झुमा दे। कवि पन्त ने काव्य की उत्पत्ति को कितनी सहज व सरल भाषा में प्रस्तुत किया है-

वियोगी होगा पहला कवि, विरह से उपजा होगा गान।
निकल कर आंखों से चुपचाप बही कविता होगी अनजान।।

सचमुच जो कविता आंखों से निकली है, वही जीवन की सच्ची परिभाषा है। यदि किसी पुरुष में दूसरे के दुःख दर्दों को अनुभव करने की क्षमता नहीं तो वह मनुष्य ही क्या? जिसका हृदय किसी की करुणा से विकल नहीं होता वह हृदय ही क्या?

हमारे कविकुलगुरु कालिदास यों तो शृंगार के ही अन्यतम कवि कहे जाते हैं, किन्तु करुण रस की अवतारणा के प्रसङ्ग में भी वे सजग हैं। शृंगार की मादक तरंगों में अठखेलियाँ करते हुए भी वे जीवन के दूसरे पक्ष को बिल्कुल भूले नहीं है। करुणा की भावनाएं अथवा दुःखों की दारुण घटाएँ उनके हृदयाकाश में

---

१. पूर्व प्रधानाचार्य, गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय, हरिद्वार.

२. आँसू।।

३. वा.रा. १/२/१५

उमड़ती-घुमडती रही हैं। इसीलिए तो वे कहते हैं- केवल किसी को सुख ही सुख मिलेगा अथवा दुःख ही दुःख प्राप्त होगा, ऐसा नहीं हैं, अपितु सुख-दुःख तो चक्र के समान घूमते रहते हैं-

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।[४]

करुण रस की जहां तक बात है उनका समस्त काव्याकाश ही कारुणिक प्रसङ्गों की घटावलि से व्याप्त है। करुण रस की काव्य शास्त्रीय परीक्षा के आधार पर उनके किनते ही प्रसङ्ग उत्कृष्ट बन पड़े हैं। करुण रस के विषय में कहा गया है कि -

इष्टनाशादनिष्टाप्ते करुणाख्यो रसो भवेत्।

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यम दैवतः।।[५]

अर्थात् इष्ट वस्तु की हानि अनिष्ट का लाभ, प्रेमपात्र का चिरवियोग, अर्थ हानि आदि से शोक नामक स्थायी भाव की परिपुष्टि से करुण रस की योजना होती है। करुण रस के देवता यमराज हैं।

दर्पणकार की इस परिभाषा पर कवि कालिदास के कई प्रसङ्ग सटीक बैठते हैं। सर्वप्रथम हम उनके रघुवंशीय प्रसङ्गों की चर्चा करेंगे-

अज का हृदयविदारक विलाप

रघुवंश महाकाव्य के अनेक प्रसङ्गों में हृदय को कचोटने वाली पीड़ा के दर्शन होते हैं। अपनी प्राणप्रिया के वियोग से दुःखी अज का चरित्र पढ़कर कोई भी आँसू गिराए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि

एक रत्न कण खो जाने से हो उठता उर कातर।

कैसे धैर्य धरे वह जिसका लुट जावे रत्नाकर।।

वस्तुतः अज का सभी कुछ लुट गया है। अकस्मात् ही उद्यान में टहलते हुए इन्दुमती पर मौत की काली छाया मंडरा जाती है। अपनी प्रिय पत्नी को मरा जानकर अज की चेतना लुप्त हो गई। प्रिया के मुँह में पानी डाला, हवा की, अनेक उपचार किए, किन्तु सब व्यर्थ। उसकी लाश को गोद में लेकर अज विलाप करने लगे। कौन ऐसा निष्ठुर होगा जो अपने प्रिय जन की मृत्यु पर विलाप नहीं करता? अज राजा होते हुए भी एक साधारण पुरुष की भाँति डाढ़े मार-मार कर रोने लगे। उनके रोने से समस्त वातावरण में विषाद छा गया। प्रकृति भी दुःखित हो उठी। अज रोते-रोते कहने लगे-

---

४. उत्तरमेघ ५२

५. साहित्य दर्पण।।

गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥[६]

हे प्राण प्यारी! **किं न मे हृतम्।** मृत्यु ने तुम्हें मुझसे छीनकर मेरा क्या नहीं छीन लिया। मेरा तो सब कुछ छीन लिया, तुम ही मेरी सखी थी, मित्र थी, मेरी क्या नहीं थी। पृथ्वी का पति तो मैं नाम मात्र को ही हूँ, किन्तु मेरा सच्चा प्रेम तो तुमसे ही है। मैंने कभी मन से भी तुम्हारी बुराई नहीं की न बुरा सोचा-

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम्।

ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः॥[७]

अज का विलाप वास्तव में अपनी प्रिया पत्नी के लिए इतना मार्मिक है कि उसकी पीड़ा हृदय में टीस पैदा कर देती है। इतना ऐश्वर्य होने पर भी अज का सारा सुख मिट्टी हो गया है। क्योंकि सब सुखों का केन्द्र तो इन्दुमती ही थी। उनकी मार्मिक वेदना से आहत प्रकृति भी रो उठती है यथा-

विलपन्निति कोसलधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।

अकरोत् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसवाष्पदुर्दिनान्॥[८]

इस प्रकार अज अपनी पत्नी के वियोग में इतने व्यथित हुए कि उन्हें जीने की इच्छा ही न रही। जब उनका हृदय ही टूट गया, फिर अज कैसे जीवित रहते? हृदय के टुकड़े होने पर क्या कोई जीवित रह सकता है? अन्त में अत्यधिक पीड़ा के कारण दुःखी अज स्वर्गवासी हो गए। अपनी प्रिया के वियोग में तिल-तिल कर जल गए। शोक शंकु से इतने आहत हुए कि प्राणों का मोह न रहा कि करुणा कहती है-

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने॥[९]

वसिष्ठ जी की उपदेशमयी वाणी भी अज के शोक दग्ध हृदय पर मरहम न लगा सकी। वस्तुतः हृदय का वह प्यार ही तो मानव को ऐसा करने को मजबूर करता हैं। प्रीतियोग को हृदय ही जान सकता है। अज और इन्दुमती सा प्यार कोई करके तो देखे, जड़-जंगम सब रो उठेंगे। यह है कालिदास की करुणा जो हृदय के मर्म

---

६. रघु. ८/६७

७. रघु. ८/५३

८. रघु०८/७०

९. रघु० ८/९३

को छेदकर उसमें सीधी समा जाती है।

पुत्रप्राप्ति की चिन्ता

इसी पीड़ा का एक ओर रूप देखिए। पुत्रप्राप्ति की चिन्ता राजा दिलीप को अन्दर ही अन्दर कचोटे जा रही है। वे पुत्र अभाव से गहरे तक दु:खी हैं, किन्तु लोक दिखावे के लिए किसी से कुछ नहीं कहते। एक दिन उनका हृदय पुत्रप्राप्ति की पीडा से अत्यधिक शोक विह्वल हो गया। राज्यभार मन्त्रियों पर डालकर राजा रानी गुरु वसिष्ठ के आश्रम में जा पहुँचे। गुरु ने कुशल–मंगल पूछी। राजा ने अपने हृदय की पीड़ा कह डाली। दु:खी हृदय से दिलीप बोले – ऋषिवर! आपकी कृपा से मेरा राज्य सुविस्तृत और सुसंगठित है, किन्तु इस मेरी पत्नी के मेरे समान तेजस्वी पुत्र नहीं हो पा रहा है, यही बात मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचा रही है। यह विस्तृत पृथ्वी का राज्य भी मुझे सुख नहीं देता। सन्तान से ही सच्चा सुख प्राप्त होता है, वही पितरों को तारने वाली कही गई है। अत: हे इक्ष्वाकु वंश पर कृपालु महामुनि वसिष्ठ!आप मुझे नि:सन्तान देखते हैं तो क्या आपको दु:ख नहीं होता? आप कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मैं पितृ ऋण से विमुक्त होऊँ। वे कहते हैं –

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः।।[१०]
लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।[११]
तया हीनं विनतेर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम्।।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास छोटी सी बात को ही ऐसे शब्द दे देते हैं कि वह कुशल तीर चालक की तरह निशाने पर जाकर अपना कार्य पूर्ण कर देती है। **'पश्यन्न दूयसे'**[१३] में सब कुछ कह डाला है।

राम का राज्याभिषेक

अन्यत्र भी देखिए। राजा दशरथ राम को राजपाट देना चाहते हैं। सब ओर प्रसन्नता ही प्रसन्नता झलक रही है। प्रजा फूली नहीं समा रही, क्योंकि आज उनके प्यारे राजा राम का राजतिलक होने वाला है, किन्तु उसी

---

१०. रघु० १/६६
११. रघु० १/६९
१२. रघु० १/७०

१३. रघु० १/७०

बीच केकैयी की कुटिलता ने सारी की सारी प्रसन्नता पर पानी फेर दिया। कवि एक ही श्लोक में सब कुछ कह देता है। यथा –

तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया।

दूषयामास केकैयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः॥[१४]

सीता की व्यथा

आगे सीता की वनवास कथा भी व्यथामयी है। सीता ने जीवन में क्या सुख पाया? केवल पाया संताप। रावण की लंका में भी वह राम से दूर दिन काटती रही और जब उसका मिलन हुआ तो फिर दुःख की काली घटाएं उस पर मँडराने लगीं। प्रजा सीता के शुद्ध चरित्र पर आक्षेप करती है। लोकानुरञ्जन को आदर्श मानने वाले राम लक्ष्मण के द्वारा उन्हें वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण जब वन में लाने का सच्चा भेद बताते हैं तो सीता उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़ी, जैसे लू लगने पर फूल। कितनी मार्मिकता है, इस पद्य में –

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना।

स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम॥[१५]

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासु समतप्यतान्तः।

तस्या सुमित्रात्मजरत्नलब्धो मोहादभूत् कष्टतरः प्रबोधः॥[१६]

सीता अपने कष्ट को उसी प्रकार पी जाती है, जैसे कोई कड़वी औषधी पी जाता है। वह अपने को निरपराध और सती साध्वी जानकर भी इतना ही कह सकी–

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।

मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥[१७]

वस्तुतः ये जो लोकापवाद मनुष्य की अन्तरात्मा को व्यथित कर डालते हैं। सीता लक्ष्मण से कहती हैं प्यारे देवर लक्ष्मण! तुम उन निर्मोही राम से कहना कि आपने मुझे अपने सामने ही अग्नि को साक्षी मानकर शुद्ध पाया था, किन्तु प्रजा के डर से आपने मुझे त्याग दिया, यह आप जैसे प्रसिद्ध कुल वालों को शोभा नहीं देता। मेरे गर्भ में आपके पुत्र का तेज है, अगर यह न होता तो मैं आपसे बिछुड़कर क्या कभी जीवित रहती? किन्तु मैं तो अगले जन्म में भी आपकी पत्नी होऊँ, प्रभु से यही प्रार्थना करूँगी। आपने मुझे घर से निकाल दिया

---

१४. रघु० १२/४/

१५. रघु०१४/५४॥

१६. रघु०१४/५६/

१७. रघु०१४/६१/

है, किन्तु मैं आपकी प्रजा हूँ। अत: आप मुझे अपनी प्रजा ही मानकर देखभाल करते रहिएगा। वह कहती है-

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीत:।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।। [१८]

वस्तुत: कितनी मार्मिक वेदना है, सीता के कथन में। सीता का अन्तर्द्वन्द्व हृदय को बेध डालता है। निर्दोष सीता पर प्रजा द्वारा लगाया गया लांछन उसे पुन: पुन: कुरेद रहा है। वह निर्दोष और नि:सहाय है। लक्ष्मण भी जब उसे वन में अकेला छोड़कर चल पड़े, तब निरपराधिनी सीता डाढे मार-मार कर रोने लगी। उनके दु:ख का आवेग आँसूओं की धाराओं में बहने लगा। उनका रोना सुन आसपास के सभी पशु-पक्षी भी व्याकुल हो उठे। कवि कहता है -

तथेति तस्या: प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूय:।। [१९]
नृत्यं मयूरा: कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्य:।
तस्या प्रपन्ने समदु:खभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि।। [२०]

यह है कालिदास की करुणा। जिससे मानव ही नहीं, अपितु प्रकृति भी रो उठती है। यही करुणा भवभूति को पाकर इतनी प्रखर हुई कि उससे उत्तररामचरित की सृष्टि हो गयी तथ पत्थर तक रो उठे। अर्थात् पत्थर दिल मानव भी अश्रु बहाने लगे। वास्तव में निरपराध स्त्रियों को वैधव्य झेलने का जो कष्ट अनुभव करना पड़ता है, उसे कोई भुक्तभोगी ही जांन सकता है। इसी प्रकार जहाँ सीता अन्तर्वेदना से पीड़ित हो अपना दु:ख व्यक्त कर रही है, वहाँ श्रीराम प्रजा पालक आदर्श राजा का चरित्र निभाते हुए व्यक्तिगत रूप से अन्दर तक व्यथित हैं, वे अपनी पीड़ा को कह भी तो नहीं पाते। फिर भी करुणामिश्रित दु:ख का स्रोत तो फूट पड़ता ही है। जब लक्ष्मण ने वे बातें जो सीता ने रो-रो कर सुनाई थीं, राम को सुनाई तो उन्हें सुनकर राम की आंखों से टप-टप आंसू टपकने लगे। कवि की बानगी देखिए-

बभूव: राम: सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्र:।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्त:।। [२१]

राम ने सीता को अपनी इच्छा से नहीं वरन् कलंक के भय से छोड़ा था। वे सुखों का मोह छोड़कर

---

१८. रघु०१४/६७

१९. रघु०१४/६८

२०. रघु०१४/६९

२१. रघु० १४/८४

अपना शोक रोकर भाइयों के साथ राज्य का शासन करने लगे। सीता को कभी भूले नहीं, अश्वमेध में भी उन्होंने सीता की सोने की मूर्ति को ही अपने बायें बैठाया और कभी दूसरी स्त्री का विचार मन में नहीं लाए। अपनी आन्तरिक पीड़ा को अन्दर ही अन्दर पी गए, पृथिवीपाल जो थे। सीता अपनी परीक्षा देते-देते अपने हृदय के दारुण दु:ख से व्याप्त हो वाल्मीकि और राम आदि के देखते-देखते पृथिवी समाधि लेकर पाताल में समा गयी।[२२] वहीं अपने अर्न्तमन में पीड़ा का भाव संजोये किन्तु प्रजारंजन में लगे राम भी एक दिन सरयू नदी में जल समाधि लेकर वरुणालय में विलीन हो गए।[२३] सीता और राम दोनों ही थल और जल की समाधि के द्वारा आत्ममिलन कर मुक्त हो गए।

अत: कहा जा सकता है कि कालिदास मानव की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के कुशल चितेरे हैं। जीवन के गीले गीतों के सरस गीतकार हैं।

रति का कारुणिक विलाप

आइये, अब हम उनके कुमारसम्भव के कारुणिक प्रसङ्गों की चर्चा करेंगे। यह काव्य अलौकिक शक्तिसम्पन्न शिव और पार्वती की गहन रंगस्थली है। कुमारसम्भव में जहाँ शृंगार की अद्भुत छवि के दर्शन होते हैं, वहाँ शिव और पार्वती का ललित लास्य सर्वत्र पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है, किन्तु ऐसी मदभरी लुभावनी रंगस्थली में भी एक युवती का कारुणिक विलाप बरबस हृदय को बेध डालता है। पत्थर दिल को भी दहला देता है। रति अपने जीवन साथी अनङ्ग के लिए विलाप कर रही है। उसके करुण क्रन्दन से करुणा की अविरल धारा संवाहित हो उठती है। जीवन के सुन्दर क्षणों में ही काम का मरण हो गया। अनङ्ग- शिव को क्रोध से भस्म हो गए। रति को समाचार मिला। रति और काम एक ही आत्मा के दो रूप दो शरीर एक-दूसरे के पूरक। कभी एक दूसरे से लड़े नहीं भिड़े नहीं। प्रेममय जीवन के पथिक फिर यह दु:ख कैसा ? अनङ्ग की मृत्यु का समाचार सुन रति कटे वृक्ष की भाँति धम्म से गिर पड़ी, जैसे कमलिनी को पाला मार गया, चेतना खो बैठी। होश आने पर वियोग की पीड़ा से हृदय व्यथित हो उठा बोली-

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं न विलपन्त्यै रतये न दीयते।।[२४]

प्रिय, तुमने मेरी कभी अनचाही बात नहीं की और मैने भी कभी तुम्हारी बात नहीं टाली। फिर बिना बात में ही मुझ बिलखती हुई को तुम दर्शन क्यों नहीं दे रहे ?

---

२२. रघु. १४/८३/८४

२३. रघु. १५/१६

२४. कुमा० ४/७

इस प्रकार वह कामदेव की अनेक बातों को याद करके विलाप करती है। वसन्त के ढ़ाढस बंधाने पर छाती पीट-पीट कर और फूट-फूट कर रोने लगी। रति और काम मानव की रससिक्त मनोभावनाओं के प्रतीक हैं, जो वसन्त काल में अपने उद्दाम यौवन पर होते हैं। यहाँ कवि ने मानवी भावों का अनूठा मानवीकरण कर सरसता का अनूठा उदहारण प्रस्तुत किया है। रति का विलाप पति की असमय मृत्यु का एक हृदय विदारक गीत ही है। रति व्यथित होकर कहती है-

विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता।
अनघाऽपि हि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी।। [२५]
तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम्।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम्।। [२६]
शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित् प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।। [२७]

अर्थात् हे वसन्त! क्या तुम समझते हो कि ब्रह्मा ने मुझे जीता छोड़कर मेरे आधे अङ्ग कामदेव का वध करके केवल आधा ही वध किया है, उसने मुझे भी मार डाला है, क्योंकि हाथी की टक्कर से वृक्ष के टूटने पर उस पर चढ़ी लता क्या कभा बच सकती है। अब तुम बन्धु होने के नाते मेरा इतना तो काम कर ही दो कि मेरा भी दाह कर मुझे पति के पास पहुँचा दो। क्योंकि बिजली बादल के साथ छिप जाती है, चांदनी चन्द्रमा के साथ चली जाती हैं, जब जड़ों में भी पति के साथ जाना पाया जाता है तो मैं चेतन होकर अपने पति के साथ क्यों न जाऊँ? वस्तुतः कितनी पीड़ा है, इन शब्दों में। यहाँ रति का दुःख दर्द टप-टप करके गिर रहा है। वैधव्य की काली क्रूर छाया ने उसे आ घेरा है। उसका पति नहीं रहा तो उसका संसार भी सूना-सूना हो गया। वह काम के बिना एक पल भी जीना नहीं चाहती, किन्तु वसन्त ढ़ाँढस देता है। उसे काम के जीवित होने की आशा बंधती है। यह है पति के लिए पत्नी का दिल दहलाने वाली विषादमयी गाथा। रति के विलाप में उन समस्त रमणियों का दुःख सिमट कर आ पहुँचा है, जिनका अपने पति से असमय ही वियोग हो जाता है। आशा के एक कोमल तन्तु के सहारे ही वह जीवित है और अपने पति की बाट इस प्रकार जोहती है, जैसे दिन में दिखाई देने वाले निस्तेज चन्द्रमा की किरणें भी सांझ की बाट जोहती हैं। कवि कहता है-

अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांबभूव

---

२५. कु०सं०४/३१

२६. कु०सं०४/३२

२७. कु०सं०४/३३

शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसराप्रदोषम्।।[२८]

यह है कालिदास की लेखनी का अनुपम चमत्कार। जिसे उन्होंने अपने हृदय सिंधु की सरस प्रेम धारा में सींच कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़कर कोई भी सहृदय दो बूँद आंसू गिराए बिना नहीं रह सकता।

मेघदूत की करुणा

आइये, अब हम कालिदास की अनुपमरचना मेघदूत की कोमल कान्त पदावली का रसपान करें। वैसे कालिदास का यह काव्य विप्रलम्भ शृंगार का ही उत्कृष्ट काव्य है, क्योंकि चिर विरह के पश्चात् इसमें मिलन की आशा है, फिर भी इसमें हृदय को विह्वल करने वाला चित्र तो मुखर है ही, जो सहृदय जनों को शोकाविष्ट किए बिना नहीं मानता। विप्रलम्भ के पूर्व राम, मरण, प्रवास और करुण में से यहाँ प्रवास और करुण भेद का ही यहाँ उत्कृष्ट रूप में चित्रांकन हुआ है। यही नहीं, कालिदास यहाँ अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, संलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मरण आदि दशों दशाओं का अंकन कर विरह को अत्यधिक मार्मिक बना देते हैं। उनका यक्ष जब यह सोचता है कहीं मेरे विरह में मेरी प्यारी पत्नी अपना जीवन नष्ट न कर ले तो उसका चित्त अत्यन्त व्यग्र हो उठता है। ऐसी दशा में विरह की पीर और भी गहन हो जाती है, प्रकृति भी झर-झर आँसू बहाने लगती है।

वास्तव में सन्तप्त हृदय उच्छ्वासों की इस अनुपम गाथा को आंसुओं की कथा ही कहा जा सकता है। इसमें विरही यक्ष की दुःखभरी जीवन गाथा चित्रित है। जिसका एक-एक छन्द हृदय में कसक पैदा करता है। अपनी भार्या से दूर रामगिरि पर पड़ा यक्ष मेघ को दूत बनाकर सन्देशा भेज रहा है। सत्य ही, आदिकाल से ही जीवन के इन मार्मिक क्षणों मे हर कोई अपने प्रेमी को सन्देशा भेजता रहा है। यक्ष अपनी पत्नी के वियोग में सूखकर कांटा हो गया। रोते-कलपते उसने कुछ महीने तो काट दिए, किन्तु जब आषाढ़ मास आया और गगन में मेघ मालाएं छा गयी तो उसका दिल डोल उठा, हृदय अधीर हो उठा। उसे शंका हुई कहीं बरसात के इन दिनों में उसकी प्यारी यक्षिणी उसका स्मरण करके अपना जीवन ही न खो दे। इसलिए उसने प्यारी को ढ़ाँढ़स बंधाने के लिए मेघ को अपना दूत बनाने का विचार कर डाला। यक्ष को क्या पता कि यह जड़ उस तक मेरी बात भी पहुँचा पायेगा या नहीं। किन्तु-प्रेम कातर मनुष्य जड़ और चेतन में भेद कहाँ कर पाते हैं। यक्ष प्रेम की गहरी पीड़ा से अभिभूत हो, कितना हृदयग्राही सन्देश भेज रहा है-

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद! प्रियायाः।

---

२८. कु०सं०४/४६

सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां।
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या।।[२९]

हे मेघ! अकेले तुम ही तो संसार के तपे हुए प्राणियों को ठंडक पहुँचाने वाले हो, इसलिए कुबेर के शाप से अपनी प्रिय पत्नी से दूर पटके हुए मेरा सन्देशा मेरी प्यारी के पास यक्षों की अलका नाम की नगरी में पहुँचा आओ। वैसे तुम्हारा मार्ग अत्यन्त कठिन, एवं टेढ़ा-मेढ़ा है, फिर भी तुम उस मेरे बिछोह में तड़प रही मेरी पत्नी को सन्देशा जरूर दे आओ। वह मेरी पत्नी-

तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्।
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।।[३०]
तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्।।[३१]

दुबली पतली सब ऋतुओं में सुख देने वाली, नन्हे-नन्हें दांतो वाली, पके हुए बिम्बाफल के समान लाल-लाल ओठों वाली, पतली कमरवाली, डरी हुई हरिणी के समान आंखों वाली, गहरी नाभिवाली, नितम्बों के बोझ से धीरे-धीरे चलने वाली और स्तन के भार से कुछ आगे को झुकी हुई युवती तुम्हें दिखाई दे, वह मेरी पत्नी होगी। उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पड़ेगा कि मानो ब्रह्मा की सबसे बढ़िया कारीगरी कोई है तो वही है। और हे मेघ! और सुन। अपने साथी से बिछुड़ी हुई चकवी के समान अकेली रहने वाली और कम बोलने वाली उस सुन्दरी को देखकर ही तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है। विरह के कठोर दिन बड़ी ललक से बिताते-बिताते उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हे यह भी धोखा हो सकता है कि यह कोई बाला है या पाले से मारी हुई कोई कमलिनी है। यक्ष अपने दूत मित्र मेघ से कहता है कि 'जीवितं मे द्वितीयम्' वह मेरा दूसरा प्राण ही है, किन्तु विरह के दिन बिताते हुए तो उसका रूप ही बदल गया होगा।

---

२९. पूर्वमेघ ७
३०. उत्तरमेघ २२
३१. उ०मे०२३

वास्तव में मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा का नाम ही विरह है। वियोग में प्रेमी अपनी प्रेममय वस्तु में ही लीन रहता है। अपने प्रेमी की छाया ही उसे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति से तादात्म्य रखते हुए भी वह असीम दुःख कातर हो, अपने प्रिय से मिलन हेतु छटपटाता रहता है। प्रेम का यह तीव्रतम वेग ही जब मिलन आकांक्षा की स्वर्णिम रेख से टकराता है तो प्रेमी अधीर हो उठते हैं और किसी मेघ को अपना दूत बनाकर अपने प्यारे के पास भेजने को व्याकुल हो उठते हैं। प्रेम का यह उत्कष्ट रूप ही साहित्य जगत् में छायावाद की सृष्टि करता है और यही रहस्य के आवरण में लिपट कर रहस्यवाद बन जाता है। जो हमारे हृदय तन्त्री के तारों को झंकृत करता रहता है।

कालिदास ने अपने मेघदूत में विरह के अनेक करुणिम चित्रों को उतारा है। वस्तुतः विरह व्यथा की इस दुःखभरी कथा को कैसे कहा जाए? जिसमें प्रेमीजन अपना सब कुछ भूलकर केवल मिलन की आकांक्षा से ही जीवित रहते हैं। सुन्दर वस्त्र धारण करना, भूखे प्यासे रहना, शृंगार आदि का न करना, एकान्त में बैठे रहना आदि तो उनके लिए साधारण सी बात हो जाती हैं। वैसे तो अपने प्रेमी के लिए प्राणों तक को त्यागने को तैयार हो जाते हैं। विरह का कारुणिक चित्र जिस की पीड़ा से आंखों में आंसू आए बिना नहीं रहते, कितना मार्मिक बन पड़ा है-

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥ [३२]

विरही अपने प्रेमी को याद करके उसकी अनेक बातों का चिन्तन करते हुए अपने कठोर क्षणों को व्यतीत कर डालते हैं। मलिन वस्त्र पहिने यक्षिणी अपने प्रियतम के यशोगीत गाती है-

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारायित्वा कथंचिद् भूयो
भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ति॥ [३३]

कवि ने चिन्ता से कृशकाय विरह शय्या पर पड़ी यक्षपत्नी का कितना मार्मिक चित्र उतारा है, जिसमें वह कृष्णपक्ष की क्षीण कला की भाँति है-

---

३२. उ०मे० २४

३३. उ०मे० २६

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्।।[३४]

वास्तव में रमणीय और सुकुमार भावों की रंगस्थली ही तो है यह मेघदूत। सर्वत्र ही विरही यक्ष का करुण क्रन्दन मर्म पर आघात कर रहा है। वह कहता है-**'जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं नान्यरूपाम्।'**[३५] उस मेरी पत्नी की दशा कमलिनी के समान हो गई होगी, जो पाला पड़ जाने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।

इस प्रकार मेघदूत की करुणा अपनी होती हुई भी सबकी है। यक्ष की पीड़ा सारे जगत् की पीड़ा बन गई है। वह इतनी सरस कातर करुण एवं स्पन्दनशील है कि उससे कोई भी सहृदय पाठक दुःखी हुए बिना नहीं रह सकता। कुबेर के किसी कठोर अभिशाप के कारण विरह का जो दुःख यक्ष को उठाना पड़ रहा है, वह बहुत ही हृदय द्रावक है, किन्तु यक्ष के कठोर व्रत के कारण जो दुःख उसकी प्रिय पत्नी को उठाना पड़ रहा है, वह भी कम पीड़ादायी नहीं है। आशा का एक सूत्र ही तो प्रेमी जनों को जोड़े रहता है, उनके जीवन की रक्षा करता है। अगर यह आशाबन्ध न हो तो असीम विरह वेदना और कष्टों के कारण प्रेमीजनों के हृदय टूक-टूक हो जाए। अतः कहा जा सकता है कि मेघदूत एक विरह पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की एक मर्मभेदी कथा है। उसमें विह्वलता, विकलता, चारुता, परदुःखकातरता और आतुरता सभी कुछ है। वह वस्तुतः मानव की अन्तः एवं बाह्य सभी वृत्तियों का सजीव दर्पण है। जिसमें यक्ष और यक्षिणी के विप्रलम्भ श्रृंगार का सुकुमार और करुण अंकन हुआ है। अपने जीवन के अन्तरंग सुकुमार एवं मदभरे प्यार भरे, रतजगे क्षणों को याद कर यक्ष अपनी विरह व्यथित रागिनी को मुखरित करता हुआ यक्षिणी की स्मृतियों में डूब कर अपनी दर्द भरी व्यथा कथा मेघ से कहकर जी हल्का करता है। यहाँ करुणा की मंद-मंद निर्झरणी सर्वत्र आप्लावित हो रही है और मन्दाक्रान्ता का सुमधुर, सरस, हृदयस्पर्शी संगीत सर्वत्र अपनी स्नेहमयी धारा प्रवाहित कर रहा है, जिसमें कोई भी सहृदय आमुख निमग्न हो उसका रसपान कर आनन्द प्राप्त कर सकता है।

शाकुन्तलम् की मर्मभेदी व्यथा कथा

कालिदास के सहृदय हृदय का यही समधुर सरस एवं कारुणिक राग हमें अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में भी मिलता है। आज शकुन्तला अपने पति-गृह चली जाएगी, यह विचार आते ही समस्त आश्रमवासी विह्वल हो उठे हैं। प्रियम्वदा और अनुसूया भी अपनी प्रियसखी की विदा पर प्रत्यक्ष में प्रसन्न होती हुई भी किसी अज्ञात अनिष्ट

---

३४. उ०म० ३१

३५. उ०मे० २३

की आशंका से चिन्तातुर हैं। मृगों ने घास चरना बन्द कर दिया है, पक्षी चुप हो गए हैं। वृक्ष पीले पत्ते गिरा रहे हैं, सारी प्रकृति ही मानो शकुन्तला की विदाई से दुःखी है। एक छाटे से मृग शावक ने शकुन्तला की साड़ी का छोर पकड़ लिया है, मानों उसे कह रहा हो हमें छोड़कर कहाँ चली जा रही हो। एक मृग छोने के प्रसङ्ग द्वारा भारतीय परिवारों की उस संस्कृति का अन्दर ही अन्दर दुःख-सुख मिश्रित वह पक्ष कवि ने चित्रित कर दिया, जो सदा ही नवविवाहिताओं को विदाई के क्षणों में दृश्यमान होता है। देखिए, महर्षि कण्व संसारी न होते हुए भी अपनी पाली पोसी पुत्री शकुन्तला के विदाई क्षणों में अन्दर तक विह्वल हो उठे हैं। अपने हृदय को सम्भालते हैं, गला भर आया है, आँखों से आँसू छलकना ही चाहते हैं। बस, इतना ही कह सके **'शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयत'**[३६] हे पुत्री! तेरे द्वारा दी गई और कुटी के द्वार पर उगी हुई नीवार बलि को देखते हुए मेरा शोक कैसे शान्त होगा? किन्तु फिर यह सोचकर कि **'अर्थो हि कन्या परकीय एव'**[३७] कन्या पराया धन है, कन्या अपने पति के घर की शोभा है, उनके चित्त की विह्वलता कुछ कम होती है। परन्तु अपनी मन की व्यथा को वे शकुन्तला के विदाई के क्षणों में चार श्लोकों के माध्यम से प्रकट कर ही देते हैं। प्रथम श्लोक में वे शार्ङ्गरव के द्वारा राजा दुष्यन्त के लिए सन्देश भेजते हैं, जिसमें उनका अपनी पोषिता पुत्री शकुन्तला के लिए अपार प्यार छलकता है। कालिदास की कहने की बानगी देखिए - हे राजन्! कहां तो हम सीधे साधे तपस्वी संयमी लोग और कहां आप ऊँचे घराने के राजा। फिर आपने अपने आप इस कन्या से विवाह कर लिया है, इन सब बातों का ध्यान करके आप कम से कम इतना अवश्य कीजिएगा कि दूसरी रानियों के सामन शकुन्तला को आदर प्राप्त हो।[३८] यहाँ ऋषि कण्व की आन्तरिक पीड़ा स्पष्ट झलकती है क्योंकि अनेक रानियों के होते हुए वह प्यार नहीं मिल सकता है, जो सामान्य रूप से एक गृहणी को मिलता है। और आगे इसका भाग्य यदि इसे इससे अधिक सौभाग्य प्राप्त हो, कन्या के बन्धु-बान्धव इससे अधिक भला क्या कह सकते हैं। अपनी कन्या को दूसरे के हाथ सौंपते हुए जो शंका सद्गृहस्थों के मन में उठती है, वह कण्व के मन को भी कहीं न कहीं पीड़ित कर रही है।

सांसारिक लोगों की भाँति वे शकुन्तला को समझाते हैं। पुत्री! तुम पति के घर जाकर बड़े बूढ़ों की सेवा करना, पति निरादर भी करें तो उनसे क्रोध करके झगड़ा न करना, घर में सबसे प्यार से रहना, अपने सौभाग्य पर इतराना नहीं। जो सच्ची गृहणियाँ होती हैं, वे ऐसा करती हैं, इससे उल्टा चलने वाली अपना सौभाग्य खो देती हैं।[३९]

---

३६. अभि०शाकु०४.२१

३७. अभि०शाकु०४.२२

३८. अभि०शाकु०४.१७

३९. अभि०शाकु०४.१८

कण्व का यह प्यार भरा उपदेश सुनकर और उनसे गले लगकर शकुन्तला अपने को **'कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि'**[४०] मलय पर्वत से उखाड़े हुए चन्दन के पौधे के समान समझ कर दुःखी होती है।

कण्व कहते हैं - हे पुत्री! इतनी क्यों अधीर हुई जा रही हो। बेटी! जब तुम वहाँ जाकर दिन-रात कामों में लगी रहोगी तथा पुत्रवती हो जाओगी तब मुझसे बिछुड़ने का सब दुःख भूल जाओगी। पुत्री तुम्हारे लिए मेरा दिल जो-जो चाहता है वह सब तुम्हे मिल जाए। इस प्रकार कण्व सांसारिक न होते हुए भी अपनी पुत्री शकुन्तला के विदाई के क्षणों में अपने ह्दय की अधीरता को परोक्ष शब्दों में कह ही देते हैं।[४१]

यह है कालिदास की मार्मिकता। आगे शकुन्तला की वह स्थिति कितनी करुण एवं विषादमयी हो जाती है, जब सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी दुष्यन्त उसे पहचानने से इंकार कर देता है और वह अनाथ होकर राजा को फटकारती हुई चली जाती है। शारद्वत और शार्ङ्गरव से शोक विह्वल हो कह उठती है- **'कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि? यूयमपि मां परित्यजथ'**[४२] इस धूर्त राजा ने तो मुझे छोड़ दिया हैं, तुम भी मुझे छोड़ रहे हो। वह अपनी दीन-हीन दशा देखकर धरती से प्रार्थना करती है कि माँ तू मुझे अपनी क्रोड (गोद) में समेट ले। वह कहती है-**'भगवती वसुधे, देहि मे विवरम्'।**[४३]

यह है कालिदास का अनूठा चित्र- जिसमें जीवन की सच्चाई भरी पड़ी है। कालिदास यहाँ जैसे हमारे मन को बरबस ही जकड़ लेते हैं और दुखिया शकुन्तला का चित्र, राजा और मुनि-कुमारों का संवाद आदि सभी कुछ पाठक को व्यग्र कर डालता है। वह सोचता है इस बेचारी भोली-भाली वन कन्या की क्या से क्या दशा हो गई आगे न जाने उसकी क्या दशा होगी। यह तो हुई **अभिज्ञान-शाकुन्तलम्** की बात। अब उनके विक्रर्मोवशीयम् का रसपान करेंगे। कालिदास ने यहाँ उर्वशी के वियोग में पीड़ित पुरुरवा का अनोखा चित्र उभारा है। पुरुरवस् राजा होते हुए भी एक साधारण मनुष्य की भाँति उर्वशी के प्रेम विरह में पागल-सा हो जाता है। पेड़ों में मेघों में, लताओं में, फूलों में सभी जगह वह उर्वशी को ढूंढता है। कालिदास प्रकृति का साहचर्य लेकर वातावरण को कितना कोमल, कान्त, सरस, मधुर, तरल एवं मार्मिक बना रहे हैं। वे कहते हैं-

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम्।

---

४०. अभि०शाकु०४.१८ श्लोक से अग्रिम वाक्य।

४१. अभि०शाकु०४.१९ से अग्रिम वाक्य **'यदिच्छामि ते तदस्तु।'**

४२. अभि०शाकु०पञ्चम अंक।

४३. अभि०शाकु० अंक ५

अविरलवाष्पजलार्द्रं तापयति हंसी युगलम्।।[४४]

अर्थात् अपनी सखी के दुःख में घबराई हुई और एक-दूसरे को प्यार करने वाली दो हंसनियाँ आंखों से आंसू बहाते हुए तड़ाग के तीर पर बैठी सिसक रही हैं।

उर्वशी और पुरुरवा दोनों गंधमादन पर्वत पर मौजमस्ती करने गए थे। ऐसे में राजा की प्रिया उर्वशी न जाने कहाँ लुप्त हो गई। पुरुरवा पागल सा हो गया। अपूर्व सुन्दरी उर्वशी के वियोग में वह कहता है कि अरे, अरे, अरे! हम जैसे फूटे भाग वालों पर आपत्ति पर आपत्ति आया ही करती है। क्योंकि -

कहाँ एक ओर तो प्रिया का वियोग सहा नहीं जा रहा और कहाँ ऊपर से यह मेघों से आच्छादित मनोहारी दिन। वह मोर से अपनी प्रिया का पता पूछते हुए कहता है-

बर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मे तत्

अत्र वने भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता।

निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हसंगतिः

अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया।।[४५]

वह कोयल से पूछता है-

परिभृते! मधुरप्रलापिनी कान्ते नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती।

यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तर्ह्याचक्ष्व मे परिपुष्टे।।[४६]

वह कहता है दूसरे का दुःख चाहे कितना ही अधिक हो पर लोग उसे कम ही समझते हैं -**'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहः**। वैसे देखा जाए तो विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा प्रलाप में मेघदूत की ही करुणा अंकित हुई है। हथिनी के विछोह में करुणार्द्र हाथी का दुःख देखकर पुरुरवा हाथी से पूछता है-

प्रियतमा विरहक्लान्तवदनोऽविरलवाष्पजलाकुलनयनः।

दुःसहदुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः।

अधिकं दूनमानसः कानने भ्रमति गजेन्द्र।।[४७]

अरे मतवाले हाथी-

मदकलयुवतिशशिकला गजयूथपयूथिकाशबलकेशी।

---

४४. विक्र०४.२

४५. विक्र०४/१२

४६. विक्र०४/२४,

४७. विक्र० ४/१५

स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका।।[४८]

क्या तूने अपनी दूर तक देखने वाली आंखों से उस सदा युवती उर्वशी को कहीं देखा है, जो युवतियों में चन्द्रमा की नई किरण के समान चमकती है और जिसके बालों में जूही के फूल गूंथे हुए हैं।

अन्त में वह अपने भाग्य को ही दोष देता हुआ कहता है, जब दिन खोटे आते हैं तो सभी दुत्कारते हैं **'उपपद्यते परिभवास्पदं दशाविपर्ययः**। प्रेमोन्मत्त एवं बिछोह में पागल राजा यह नहीं विचारता की प्रकृति के ये उपादान सब जड़ हैं। भला कहीं गज, मोर, कोयल, मेघ, हंस, वृक्ष, हरिण उसे उसकी प्रिया का पता बता सकते हैं। अन्त में वह अधीर हो लता को ही गले लगा लेता है-**'इति उपसृत्य लतां आलिङ्गति'**। पर यह क्या ? मानों उसे उर्वशी ही मिल गई हो। वह मूर्छित हो जाता है। दुःख के बाद उसे सुख प्राप्त होता है। विरह की कसक के बाद वह मिलन के अमृतबिन्दु को चखता है। वह कहता है-

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता।

दिष्टचा प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना।।[४९]

अर्थात् आज में जी गया प्यारी हे सुन्दरी! तुम्हारे बिछोह के अंधेरे में डूबते हुए मैंने भाग्यवश तुम्हें उसी प्रकार पा लिया है, जैसे मरे हुए को प्राण मिल जाएं। सचमुच कालिदास ने पुरुरवा के इस प्रेम में इतनी पीड़ा भर दी है कि पाठक अपनी सुधबुध खो उसी में रम जाता है और वह पागल-सा हो, अपनी प्रेयसी के वियोग की कसक हृदय में अनुभव करने लगता है।

इसी प्रकार कालिदास का मालिविकाग्निमित्र भी प्रेम की अद्भुत परिकल्पना है। तप्त लोहे से सन्तप्त लोहे का मिलना है। प्रेम और विरह के झूले में झूलते दो समान प्रेमधर्मा प्रेमियों की अनुपम कहानी है। कालिदास की कल्पना यहाँ भी मुखर एवं भाव प्रखर हैं।

अतः निबन्ध को परिसमाप्ति की ओर ले जाते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालिदास की करुणा मर्मस्पर्शिनी है, उसमें पर दुःख कातरता, स्वाभाविकता, विह्वलता, स्पन्दनशीलता सभी कुछ है। उनके अज, उनकी रति, उनकी शकुन्तला, उनकी सीता, उनके यक्ष-यक्षिणी उनके पुरुरवा सभी का जीवन करुणा की विकल रागिनी ही तो हैं। कुमार-सम्भव में कवि ने पार्वती का चित्रण एक विरह विदग्धा नायिका की भाँति न कर एक तपस्विनी के रूप में कर काव्य में प्रेम को एक अलौकिक रूप प्रदान किया है। पार्वती के प्रेम में एक गहरी पीर छिपी है। वहाँ तो सच्चे प्यार की परीक्षा है। अस्तु, कालिदास ने जीवन के अश्रु उच्छवास सुख-दुःख सभी का सरस और मनोहारी अंकन किया है। उनकी कविता कामिनी का भ्रूविलास सर्वत्र ग्राह्य है तो अश्रुपात

---

४८. विक्र०४/४६

४९. विक्र०४/७१

प्रत्येक को व्यथित कर डालता है। वस्तुत:, अश्रु उल्लास की यह कविता जीवन की संगिनी रही है। यहाँ कभी मिलन है तो कभी विरह है। कभी सुख है तो कभी दु:ख। कहा भी है-

बस मिलन विरह की क्रीड़ा
होती है जगती तल में।
कुछ हंसते गाते-रहते
कुछ रोते रहते मन में।।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१७०-१७६)

स्वराज पर पुनर्विचार- औचित्य एवं आधार

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य[१]

स्वराज- एक बहुआयामी एवं व्यापक अवधारणा है। जिसके सभी पहलुओं के ऊपर एक निबन्ध के अन्तर्गत विचार करना न सम्भव है और न आवश्यक ही। अत एव प्रस्तुत निबन्ध में इसके दो प्रमुख पहलुओं के ऊपर विचार किया गया है। स्वराज पर पुनर्विचार का औचित्य, पुनर्विचार के मौलिक आधार अथवा कसौटियाँ। जो यहाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं-

१.स्वराज पर पुनर्विचार का औचित्य

इस सन्दर्भ में एक प्रमुख आपत्ति वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की नीति के समर्थकों द्वारा इस प्रकरण में प्रस्तुत की जा सकती है कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में जबकि प्रिंट व इलैक्ट्रानिक मीडिया द्वारा संचार और उपग्रह प्रणाली के जरिये विश्वग्राम की अवधारणा सार्थक होने जा रही है। आर्थिक सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में एकीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो रही है, आर्थिक गतिविधियों ने राष्ट्रिय दीवारों को शिथिल कर दिया है। ऐसे दौर में स्वराज पर पुनर्विचार करना क्या वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया को आघात नहीं पहुँचायेगा? इस सन्दर्भ में मेरा यह सुविचारित मत है कि वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में मनुष्य का अस्तित्व उसके विकास के साथ अनिवार्यतः जुड़ गया है। विकास करो, अन्यथा नष्ट हो जाओ- यह वर्तमान युग की कटु सच्चाई है। इसीलिए वर्तमान दौर में विकास अस्तित्व की अनिवार्य शर्त बन गया है, किन्तु विकास का भौतिक आधार आज भी राष्ट्र ही है:- विकास नीति के निर्माण एवं कार्यान्वयन की दृष्टि से। अतः इस दौर में भी मनुष्य के विकास को सुनिश्चित करने के लिए सशक्त राष्ट्र का होना नितान्त आवश्यक है। सशक्त राष्ट्र के निर्माण के लिए स्वराज पर पुनर्विचार नितान्त आवश्यक है, विशेषकर भारतीय सन्दर्भ में।

इसके आलावा, प्रत्येक समाज और राष्ट्र के विकास क्रम में अनेक ऐसे निर्णायक अवसर आते हैं, जब उसे आत्मनिरीक्षण एवं स्वमूल्यांकन की आवश्यकता गहराई से अनुभव होती है। उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु सही दिशा निर्देश पाने के लिए अतीत का पुनरावलोकन आवश्यक भी है। निःसन्देह ऐसी घड़ियाँ किसी राष्ट्र के जीवन में बड़ी मूल्यवान् होती हैं। सम्भवतः अनेक वर्षों के पुरुषार्थ से भी कहीं अधिक मूल्यवान्। भारतीय राष्ट्र के सन्दर्भ में स्वाधीनता की यह स्वर्ण-जयन्ती वर्ष ऐसे ही निर्णायक काल खण्ड के रूप में हमारे लिए विचारणीय हो गया है। ऐतिहासिक महत्त्व के इस वर्ष ने स्वराज पुनर्विचार की हमारी मनःस्थिति सहजतः

१. रीडर दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

निर्मित कर दी है। स्वाधीनता आन्दोलन की स्मृतियाँ और उसके आदर्शों से सीधे-सीधे जोड़कर स्वराज पर पुनर्विचार की अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है- देश की वर्तमान चुनौती पूर्ण समस्याओं के कारण, जिनसे जूझते हुये प्रत्येक जागरूक एवं संवेदनशील मस्तिष्क स्वयं से तथा औरों से भी बार-बार यह प्रश्न पूछने का प्रयास करता है कि देश में व्याप्त जो वर्तमान गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, हिंसा, शोषण, लूट, खसौट और घोटाला संस्कृति तथा आतंकवाद फल-फूल रहे हैं, क्या उनके लिए देश के लाखों बलिदानियों ने स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर किया और यह हसरत दिल में लिये वे फांसी के फन्दे पर झूल गये कि-

या इलाही एक वो दिन भी देखेंगें।

जब अपनी जमीं, अपना आसमाँ होगा।

अस्तु, यदि हम वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं से मुक्ति पाना चाहते हैं, ताकि विश्वस्तर पर भारत प्रभावी भूमिका का निर्वाह कर सके, तो इसके लिए आवश्यक है:- सुदृढ़ एवं सशक्त भारत का निर्माण करना, जिसके लिए एक बार पुन: स्वराज के उच्चादर्शों एवं जीवन मूल्यों से जुड़ना आवश्यक है। यह स्वराज पर पुनर्विचार से सम्भव हो सकेगा।

इस सन्दर्भ में यहाँ यह भी विचारणीय बिन्दु है कि देश की वर्तमान दुरवस्था और छीना-झपटी से आहत नागरिक भी स्वराज के औचित्य पर प्रश्न उठाने लग गया है। क्या स्वराज उचित था? अथवा क्या हम स्वराज पाने के वास्तविक अधिकारी थे? कई बार आक्रोश या अतिरेक के वशीभूत यहाँ तक भी सुना जाता है कि (विशेषकर पुरानी पीढ़ी के लोगों द्वारा) स्वराज से तो अंगरेजी राज बेहतर था। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान भी ऐसी मानसिकता के व्यक्ति विद्यमान थे, परन्तु यह एक खतरनाक मानसिकता है। वर्तमान विचारहीनता रोमान्टिसीज्म और सुविधावाद के दौर में विशेषकर, किन्तु हमें इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि स्वराज पर पुनर्विचार स्वराज के औचित्य पर पुनर्विचार कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि स्वराज - स्वराज है, उसका कोई विकल्प नहीं होता। विदेशी सुराज भी नहीं। इसका कारण यह है कि स्वराज मनुष्य की जन्मजात स्वतन्त्र प्रकृति के अनुकूल है। मनुष्य का मनुष्यत्व उसकी स्वाधीनता में निहित है। मनुष्य कर्मों का कर्ता है। यह इसका प्रमाण है, क्योंकि मनुष्य का कर्तापन उसकी स्वतन्त्रता के अभाव में सिद्ध नहीं होता। प्रकृति या परमात्मा-जिसने भी मनुष्य की रचना की उसने मनुष्य के मानवोचित विकास के लिए स्वतन्त्रता को अनिवार्य शर्त या आधार बनाया। शंकराचार्य के शब्दों में **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'** अर्थात्- करे न करे अथवा विपरीत करे, यह स्वतन्त्रता के आधार पर सम्भव है।

अस्तु, पराधीनता मानवीय स्वभाव से सर्वथा असंगत है- व्यक्तिगत और राष्ट्रीय - सभी स्तरों पर त्याज्य है। मनुष्य का समग्र विकास स्वतन्त्रता पर टिका है, परन्तु विदेशी शासकों ने निहित स्वार्थों के कारण समय-समय पर स्वतन्त्रता की चेतना को कुण्ठित करने के प्रयास किये हैं। विशेष रूप से भारतवर्ष में सुराज स्थापित करने के नाम पर जैसा कि सन् १८५७ के स्वाधीनता के ऐतिहासिक संग्राम की विफलता के बाद

महारानी विक्टोरिया की घोषणा में अंगरेजी राज की स्थापना का स्वर सुनाई पड़ता है, परन्तु राष्ट्र निर्माता-मनीषियों ने स्वराज के विकल्प के रूप में अंगरेजी सुराज को कभी स्वीकार नहीं किया ऋषि दयानन्द ने महारानी की ऐतिहासिक घोषणा को ठुकराते हुये स्वराज की अनिवार्यता का सत्यार्थ-प्रकाश नामक अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन किया। उनके शब्दों में कोई कितना भी करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है अर्थात् मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख दायक नहीं है।[२]

२.स्वराज पर पुनर्विचारः - प्रमुख आधार

इस सन्दर्भ में यहाँ सर्वप्रथम यह प्रश्न चिंतनीय है कि प्रमुख आधार अथवा कसौटियाँ कौन-कौन सी हैं, जिनका स्वराज पर पुनर्विचार करते समय महत्त्वपूर्ण कसौटियों के रूप में प्रयोग किया जा सकता है? इसके लिए सबसे पहले स्वराज सम्बन्धी राष्ट्रिय अवधारणा को जानना आवश्यक है। तभी स्वराज पर पुनर्विचार की कसौटियाँ सामने आ सकेंगी।

विदित हो कि स्वराज हमारी राष्ट्रिय अवधारणा जिसकी जड़ें भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में दृष्टिगोचर होती हैं। उसके मुख्य पक्ष हैं- खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक। खण्डनात्मक पक्ष के अन्तर्गत विदेशी राज, उसके सहायक एवं आधारभूत तत्त्वों का निषेध सम्मलित है। यथा विदेशी भाषा, वेष-भूषा, धर्म, अर्थतन्त्र, प्रशासन आदि और स्वदेशी के विधायक पहल के अन्तर्गत स्वदेशी राज और उसके सहायक एवं आधारभूत तत्त्वों का समर्थन, आचरण सम्मलित है, तथा स्वभाषा, धर्म, वेष-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, चिन्तन आदि।

स्पष्टतः, स्वराज पर पुनर्विचार करते समय वे जीवनमूल्य एवं उच्चादर्श सामने आयेंगे ही, जो न केवल स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रेरक तत्त्व बने, अपितु जिनके आधार पर स्वाधीनता के आन्दोलन को लम्बे समय तक संगठित तथा संचालित किया जा सका। इसीलिए पचास वर्षों के स्वराजप्राप्ति के पश्चात् पुनः यह देखने की आवश्यकता गहराई से अनुभव हो रही है कि एक राष्ट्र के रूप में स्वतन्त्रता आन्दोलन के मूल्यों एवं उच्चादर्शों को इस अन्तराल के बाद कितना सुरक्षित रख पायें? उस दिशा में यह राष्ट्र कितना आगे बढ़ पाया अथवा विपथन का शिकार हुआ? स्वराज पर पुनर्विचार का यह प्रमुख आधार बन सकता है। इसके अलावा, पुनर्विचार की अन्य प्रमुख कसौटियाँ निम्न प्रश्नों को सामने रखकर बनायी जा सकती हैं? यथा एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नाते विगत पचास वर्षों की क्या उपलब्धियाँ रही हैं? वे कौन सी अपेक्षायें हैं जो अभी पूर्ण की जानी शेष हैं? इनके अलावा, इस उपाधि में वे कौन-कौन सी त्रुटियाँ एवं विसंगतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जो इस स्वराज की मूल

२. सत्यार्थ-प्रकाश-अष्टम समु०

अवधारणा एवं आदर्श से दूर हो रही हैं। आदि।

परन्तु इन प्रश्नों के आधार पर पुनर्विचार की कसौटियाँ तभी बन सकती हैं, जब हमें स्वाधीनता आन्दोलन के प्रेरक तत्त्वों आदर्शों एवं मूल्यों का पता चल सके, इसके लिए भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन और भारतीय संविधान के मूल तत्त्वों की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रेरक तत्त्व

इस आन्दोलन की दो प्रमुख चिंतन धारायें यहाँ हमारे सम्मुख विचारणीय हैं। शान्तिवादी और क्रान्तिकारी। इन धाराओं के प्रमुख नेताओं के स्वराज विषयक वक्तव्यों पर यहाँ दृष्टिपात करना आवश्यक है। अस्तु, भारत में शान्तिवादी राजनीतिक धारा के प्रमुख नेता एवं चिंतक महात्मा गांधी थे। उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने असहयोग, सविनय अवज्ञा और अंगरेजो! भारत छोड़ो आदि आन्दोलनों का सफलता पूर्वक संचालन किया। गांधी जी की स्वराज सम्बन्धी उनकी अवधारणा उनके इन कथनों से समझी जा सकती है।

(क) स्वराज एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ है- आत्म संयम और स्वशासन।[३]

(ख) वास्तविक स्वराज कुछ लोगों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि तब आयेगा जब (सत्ताधारी) लोगों द्वारा सत्ता का दुरुपयोग होने पर (जन सामान्य) इसका प्रतिरोध प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे।[४]

उनकी दृष्टि में स्वराज तभी सफल होगा, जब निर्धन वर्ग को विकास का मुख्य आधार बनाया जायेगा। गांधी जी के शब्दों में जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा? क्या उससे वह अपने जीवन और भाग्य पर काबू पा सकेगा। यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज मिल सकेगा। जिनके पेट भूखे और आत्मा अतृप्त है।[५]

संक्षेप में महात्मा गांधी के अनुसार (क) स्वराज आत्मसंयम एवं स्वशासन का जीवन दर्शन है, (ख) वह केवल चन्द भारतीयों द्वारा शासन का संचालन मात्र नहीं है, अपितु जनसाधाण की प्रतिरोध क्षमता का विकास स्वराज की अनिवार्य शर्त है। (ग) स्वराज एक ऐसी विकास नीति भी है, जिसका लक्ष्य है - राष्ट्र के निर्धन, दलित, शोषित एवं अशिक्षित जन का उत्थान सुनिश्चित करना। नि:सन्देह गांधी जी के इन कथनों का उपयोग स्वराज पर पुनर्विचार की महत्त्वपूर्ण कसौटियों के रूप में किया जा सकता है। विगत पचास-साठ वर्षों

---

३. गांधी जी के अमर विचार पृ०- १९

४. गांधी जी के अमर विचार पृ०-३०

५. उपर्युक्त जन्तर से।

का लेखा-जोखा करके यह ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है कि देश का आम नागरिक, जन समुदाय और शासक ये सभी स्वराज की दिशा में कितने आगे बढ़े हैं और कितने पथविमुख हुये हैं? विपथन की जड़े कहाँ हैं? आदि।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की दूसरी प्रमुख धारा क्रान्तिकारी रही है, यद्यपि यह धारा शान्तिवादी धारा जितनी व्यापक, संगठित एवं प्रभावशाली नहीं रही, तथापि इस धारा के अन्तर्गत समय-समय पर अंगरेजों के औपनिवेशिक दमन, उत्पीड़न का जैसा और जितना कारगर प्रतिरोध किया गया, उसके फलस्वरूप भारतीय जनसमुदाय प्रभावित हुये बिना नहीं रह सका। उदाहरण काकौरी काण्ड, साण्डर्स हत्या काण्ड, असेम्बली बम काण्ड आदि ये प्रमुख घटनायें इस आन्दोलन की पहचान का प्रमुख कारण बन गयीं। उत्तर-भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रमुख नेता एवं संगठन कर्ता पं० रामप्रसाद बिस्मिल थे। बिस्मिल ने राष्ट्र के नवयुवकों को अपने अंतिम संदेश में क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं बलिदान का उद्देश्य इन शब्दों में प्रकट किया था:-'मेरा जन्मना उद्देश्य रहेगा कि मनुष्यमात्र को सभी प्राकृत पदार्थों पर समानाधिकार प्राप्त हो, कोई किसी पर हुकूमत न करे। संसार में जनतन्त्र की स्थापना हो। मुझे लगातार कई जन्म इस देश में ग्रहण करने हैं। जब तक कि भारत के सभी नर-नारी पूर्णतया, सर्व रूपेण स्वतन्त्र न हो जायें।'

संक्षेप में बिस्मिल के अनुसार स्वराज पर पुनर्विचार के ये महत्त्वपूर्ण आधार होंगे:- (१) क्या सभी को प्राकृत पदार्थों पर समान अधिकार प्राप्त हो गया है? (२) क्या सबको सर्वांगपूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी है? (३) क्या सबको स्वशासन का अधिकार मिल गया है? (४) और क्या भारत की स्वतन्त्रता का संसार के शेष पराधीन राष्ट्रों में भी जनतन्त्र स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जा रहा है?

निःसन्देह स्वराज पर पुनर्विचार करने के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन की ये महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक कसौटियाँ हैं, जिन्हें स्वतन्त्रता के विगत पचास वर्षों का मूल्यांकन करते समय उपयोग में लाया जा सकता है।

बिस्मिल के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी शहीद भगत सिंह एक प्रमुख क्रान्तिकारी नेता थे। जिनकी स्वराज सम्बन्धी अवधारणा काफी व्यापक एव मूलगामी है। उसमें न केवल विदेशी दासता का विरोध है, अपितु सभी प्रकार के शोषण के उन्मूलन की खुली घोषणा भी है। भगत सिंह के शब्दों में अंगरेजी दासता के विरुद्ध संघर्ष तो हमारे युद्ध का पहला मोर्चा है, अन्तिम लड़ाई तो हमें शोषण के विरुद्ध लड़नी पड़ेगी, चाहे वह शोषण मनुष्य द्वारा मनुष्य का हो या एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का हो।

संक्षेप में शहीद भगत सिंह के अनुसार स्वराज पर पुनर्विचार का आधार होगा- समाजवाद - विश्व मानवतावाद। कविवर कृषक के शब्दों में-

जब तक भारत की धरती पर, सपनों का सूरज ढ़लता है।
जब तक दुःख के आँसू पीकर, घर-घर का बचपन पलता है।।

जब तक मेहनत की पीठों पुर, महल लूट के इतराते हैं।
जब तक इन्सानों के हक को पूँजी के दानव खाते हैं।।
जब तक भारत की धरती पर आजादी का अर्थ न पूरा।
और तभी तक भगत सिंह का वह विराट् बलिदान अधूरा।।

भारतीय संविधान

स्वाधीनता आन्दोलन के अलावा, स्वराज पर पुनर्विचार का एक अन्य प्रामाणिक आधार है-भारतीय संविधान। यह सामान्य जन से लेकर संसद, विधायिका, कार्य पालिका आदि सभी राष्ट्रिय क्षेत्रों को मर्यादित एवं दिशा निर्देशित करने वाला सर्वसम्मत दस्तावेज भी है और स्वाधीनता आन्दोलन के उच्चादर्शों एवं मूल्यों को अपने में समाहित करने वाली स्वात्मार्पित राष्ट्रिय आचार संहिता भी। भारतीय संविधान निर्माताओं ने स्वराज की आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं के अनुरूप पर्याप्त दिशा निर्देश उसके अन्दर समाविष्ट किये हैं।[६] इस अध्याय के अन्तर्गत राज्य के उन सभी कर्तव्यों का क्रमबद्ध उल्लेख मिलता है, जिन्हें पूर्ण किया जाना भारतीय जनता के प्रति राज्य का नैतिक दायित्व है। यथा-

(१) लोककल्याण की वृद्धि के लिए सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना।

(२) निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना।

(३) सबको आजीविका प्रदान करने की समुचित व्यवस्था करना।

(४) प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी सुनिश्चित करना।

(५) जन स्वास्थ्य के स्वर को ऊँचा उठाना।

(६) पूर्ण नशा बन्दी लागू करना।

(७) गौहत्या पर प्रतिबन्ध लगाना।

(८) समान नागरिक संहिता लागू करना।

(९) पर्यावरण संरक्षण करना।

(१०) संसाधनों के आर्थिक संकेन्द्रण को रोकना आदि।

संविधान में वर्णित राज्य के ये कर्तव्य, स्वराज पर पुनर्विचार के महत्त्वपूर्ण आधार बनाये जा सकते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में इन आधारों की उपयोगिता इस कारण भी बढ़ गयी है कि इन्हीं क्षेत्रों में देश की प्रमुख समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। यथा गरीबी की राष्ट्रीय दर ३७ प्रतिशत, बेरोजगारी, २० प्रतिशत, निरक्षरता

---

६. इस धारणा की पुष्टि के लिए राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व नाम अध्याय - ४ अ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

६० प्रतिशत, जन स्वास्थ्य की उपेक्षा, श्रमिकों पर पूँजी एवं प्रबन्धन पूर्णत: हावी, उदारीकरण का दौर, नशा, गौ हत्या पर प्रतिबन्ध के लिए केन्द्रीय कानून का अभाव, समान नागरिक संहिता, राष्ट्रिय एजेन्डा से बाहर, बहु राष्ट्रिय निगमों के कारण आर्थिक केन्द्रीकरण को बढ़ावा, विकास के नाम पर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देना आदि। संक्षेप में, राज्य विगत पचास वर्षों के दौरान जनता के प्रति अपने दायित्व का पालन करने में सफल नहीं हो सका। यहाँ यह प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक है कि अन्तत: क्यों ? वर्तमान सन्दर्भ में यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो गया है कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हनन को रोकने एवं उन्हें संरक्षण प्रदान करने हेतु राष्ट्रिय मानवाधिकार आयोगों का राष्ट्रीय स्तर पर गठन किया जा चुका है, परन्तु राज्य को अपने कर्तव्यों से विमुख होने अथवा उनके विरुद्ध जाने से रोकने और चेताने के लिए न तो राष्ट्रिय स्तर पर कोई ऐसा आयोग अभी तक बनाया गया है और न ही ऐसी व्यवस्था करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कोई सार्थक संवाद प्रयास, अथवा विचार विमर्श ही कहीं दृष्टिगोचर हो रहा है। स्वराज पर पुनर्विचार के सन्दर्भ में यह भी चिंतन, मनन का एक महत्त्वपूर्ण आधार बन सकता है।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१७७-१८४)

पंजाबी में हस्तलिखित साहित्य पर पंजाबी का प्रभाव

डॉ० राजेन्द्र कुमार शर्मा[1]

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की अमरकृति रामायण न केवल संस्कृत साहित्य की ही, अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भी एक अमूल्य निधि है। एक ओर जहाँ रामायण विश्व में समृद्धतम संस्कृत साहित्य के परम महनीय आदि कवि के स्थान पर प्रतिष्ठित है, वहाँ दूसरी ओर संसार में प्राचीनतम भारतीय आर्य संस्कृति और सभ्यता के एक सजीव महाकाव्य होने का गौरव भी प्राप्त है। महर्षि वाल्मीकि ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक राम-कथा के माध्यम से अपनी अलौकिक काव्यतूलिका द्वारा वेदों और उपनिषदों में वर्णित सर्वोच्च मानव संस्कृति के शाश्वत और स्वर्णिम तत्त्वों का एक ऐसा भव्य और अद्भुत चित्र प्रस्तुत किया है, जो प्राचीन होते हुए भी नवीन है तथा मानवीय होते हुए भी दिव्य है। समूची भारतीय संस्कृति का जितना ऐहिक और पारलौकिक कल्याण वाल्मीकि रामायण द्वारा सम्पन्न हुआ है, संभवतः उतना और किसी ग्रन्थ ने नहीं किया। इस आदिकाव्य ने अवान्ताकालीन कृतिकारों को स्फूर्ति तथा प्रेरणा का अमर वरदान प्रदान कर मानवता को एक ऐसा दिव्य लोकोपकारी जीवनपथ दिया जो आज भी अक्षुण्ण है। परम्परा से प्राप्त ऐतिहासिक रामकथा को उपजीव्य मानकर न जाने कितने सहस्र काव्य देववाणी संस्कृत और अन्य भाषाओं में लिखे गये। आज तक उपलब्ध रामकथा-साहित्य महर्षि वाल्मीकि से प्रभावित है और उन्हीं की रामायण को आधार बनाकर चला है। कहीं-कहीं कवियों ने किसी अपेक्षा से परिवर्तन कर भी दिया है, परन्तु विशेष स्वरूप ज्यों का त्यों है। हाँ, बौद्धधर्म के 'दशरथजातक' और जैनधर्म के 'पउमचरिय' में कुछ अन्तर अवश्य है। यह प्राचीन रामचरितों के प्रभाव से है अथवा जनश्रुतियों के आधार पर, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि रामायण और उस पर आधारितं तुलसीदास के रामचरितमानस आदि ग्रन्थ भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों के लिये आज भी एक नित्य पठनीय धार्मिक ग्रन्थ है और उसके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम परमपूजनीय आराध्य देव हैं। रामायण और रामनाम भारतीय जनजीवन में एकरूप हो गये हैं। वस्तुतः, राम की कथा मानव जीवन की कहानी है, जो प्रतिदिन हमारे जीवन में चलती रहती है। भारतीयों का तो यह जीवन सर्वस्व है।

भारतवर्ष की सभी भाषाओं का साहित्य इस सत्यता की गवाही देता है कि रामायण उसकी रीढ़ की हड्डी है। इन भाषाओं की साहित्यिक रचनाओं का न केवल भारतीय साहित्य में उत्तम स्थान है, अपितु विश्व साहित्य में भी उनका महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानजनक स्थान है। संस्कृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकथा से संबंधित अनेक प्रकार की उत्तम कृतियों की रचना हुई है।

---

१. रीडर (संस्कृत), पंजाब विश्वविद्यालय, वी०वी०बी०आई०एस० एण्ड आई०एस०, होशियारपुर (पंजाब) ४६०२१

उदाहरणत: तमिल में १२वीं शताब्दी में रचित कम्बन (कम्ब) रामायण, इसी शताब्दी में तेलगू में रंगनाथ तथा भास्करकृत रामायण तथा मलयालम में रामकविकृत रामचरितम् (ईसा की १४वीं शताब्दी), १६वीं शताब्दी में रचित कन्नड़ भाषा की तोरवे रामायण (नरहरि कृत) इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त सिंहली और काश्मीरी रामायण, बंगला भाषा कृत्तिवास रामायण (१५ वीं शताब्दी), मराठी में एकनाथ कृत भावार्थ रामायण (१६वीं शताब्दी उत्तरार्ध), गुजराती में नर्मकृत रामायणसार, हिन्दी में रामचरितमानस, असमी में माधव कन्दाल कृत वाल्मीकि रामायण का पद्यात्मक अनुवाद तथा दुर्गावर कृत गीति रामायण, उड़िया में जगन्नमोहन (बलरामदास कृत) तथा शारलादास कृत विलंका रामायण (१५वीं शताब्दी) इत्यादि अनेकानेक रचनाएं लोक में विख्यात हैं।

रामायण की महत्ता न केवल भारत के कोने-कोने में अपितु विदेशों-तिब्बत, चीन, जापान, इण्डोनेशिया जावा, सुमात्रा, वर्मा, लंका, नेपाल आदि में भी इस चरितकथा के अनेक रूप प्रचलित हैं। उदाहरणत: इण्डोनेशिया रामकियेनकी रामायण काकाविन जावा की आधुनिक रचना सेरत राम, अर्वाचीन मलयम कृति हिकायत सेरी राम, कम्बोडिया की ख्मेर भाषा की रे आम केर (रामकीर्ति), श्यामदेश की रामकियेन, ब्रह्मदेश की राम-यागन नामक रचनाओं के द्वारा श्रीराम के उज्ज्वल, उदात्त तथा अनुकरणीय चरित्र की ज्वलन्त आभा दिग्- दिगन्त को आज भी आलोकित कर रही है।

पंजाबी भाषा भी दूसरी भाषाओं की तरह रामायण के प्रभाव से कैसे अछूती रह सकती थी। वर्तमान समय का पंजाब किसी समय का सप्तसिन्धु प्रदेश था, जहाँ ऋषियों द्वारा उच्चारण किये गये वेदमन्त्र आकाश में गूंजते रहे हैं और जहाँ विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद आज हमें लिखित रूप में उपलब्ध होता है। पंजाब का जनजीवन, संस्कृति, साहित्य और आध्यात्मिक परम्पराएं रामायण कथा की व्यापकता और प्रभाव से वंचित नहीं हैं। पंजाब और रामायण के सम्बन्ध तो रामायण कथा के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। रामायण कथा के चरित्र जैसे कैकेयी का सम्बन्ध कैकेय प्रदेश जो वर्तमान पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) का भाग है, से स्पष्ट ही है। एक और दन्तकथा के अनुसार लाहौर तथा कसूर क्रमश: श्रीराम के सुपुत्रों लव तथा कुश द्वारा ही बसाये गये थे। प्रसिद्ध पंजाबी साहित्यकार व आलोचक स्व० डॉ० रविन्द्र सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध[२] (प्रकाशित) में जिला पटियाला में स्थित घड़ाम (कड़ाम) ग्राम को रामचन्द्र का ननिहाल श्रुति परम्परा से वर्णित किया है तथा मुस्लिम शासन के आरम्भ में इस ग्राम का नाम कोहि-राम अथवा कुहराम (राम की पहाड़ी) बताया गया है।[३] इसी प्रकार अमृतसर के समीप रामतीर्थ नामक स्थान है, जहाँ प्रतिवर्ष हजारों लोग एकत्रित होते हैं। अन्य स्थानों में रामपुर (जिला लुधियाना), रामगढ़ (जिला संगरूर), रामगढ़ (जिला लुधियाना) इत्यादि प्रसिद्ध हैं। यद्यपि

---

२. पंजाबी रामकाव्य डॉ. रविन्द्र सिंह-पृष्ठ ५१-५२, पंजाबी भाषा-विभाग पटियाला, अगस्त १९७१

३. पंजाब-मुख्य सम्पादक, डॉ०एस०रधावा, भाषा-विभाग पटियाला, पृष्ठ ४९८

इन स्थानों की ऐतिहासिक महत्ता नहीं, फिर भी पंजाब के जनमानस की सामूहिक चेतना के साथ रामकथा (रामायण) का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से उजागर होता है।

पंजाबी भाषा में रचित रामायण अथवा रामकाव्य का प्रचलन पंजाबी साहित्य के आधुनिक युग सन् १८५० ई० से अब तक माना जाता है। इससे पूर्व मध्यकाल में गुरुग्रन्थसाहिब में राम, रामनाम, रामभक्ति, रामभक्त, रामस्नेही इत्यादि शब्दों का प्रयोग परात्पर निर्गुण ब्रह्म के लिये किया गया और रचना पंजाबी से भिन्न भाषा में हुई। अवतारी राम की जीवनकथा के विभिन्न प्रसङ्ग भी गुरुग्रन्थसाहिब में वर्णित हैं, किन्तु वे प्रायः दृष्टान्त रूप में ही लिखे गये हैं।[४] भाई गुरदास की वारों में प्रस्तुत रामायण कथा प्रसङ्गों की भाषा पंजाबी है, किन्तु इसके उपरान्त मध्यकाल में ब्रजभाषा में लिखा समूचा काव्य रामायण पर आधारित है। अनेक सुन्दर रामायणें, नये-नये प्रयोग एवं नई उद्भावनाएं उस युग की धरोहर हैं। उनकी रचना में गुरमुखी लिपि और ब्रजभाषा को अपनाया गया। जिन रचनाओं को शुद्ध पंजाबी भाषा कहा जा सकता है, वे मात्र गिनती की ही हैं। भाई गुरदास के पश्चात् कवि यशोधानन्दन की लव-कुश दी वार, कवि देवीदास की लव-कुश द वार, कवि जवाहर सिंह की वार श्री रामचन्द्र जी की, कवि तुलसी के -बिसनपदे रामायण दे तथा कवि गुरदास सिंह कृत बारा माहा श्री रामचन्द्र जी का ही कुछ ऐसी रचनाएं हैं, जिन्हें शुद्ध पंजाबी भाषा की कही जा सकती हैं। इन रचनाओं में वार, विष्णुपद तथा बारामाहा शैलियों का प्रयोग हुआ है, जो कि प्रायः पंजाबी कृतियों में अपनायी जाती है। आधुनिक काल की रचना लव-कुश दी वार अथवा लव-कुश कथा कवि साहिब दास ने प्रस्तुत की, जिसे ब्रजभाषा में लिखा गया है। वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह के समय पर उत्तर भारत में वैष्णवभक्ति आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था और स्वयं गुरु गोविन्द सिंह इससे प्रभावित थे। विष्णु के चौबीस अवतारों की प्रशंसा में हजारों पद्यों, राम, कृष्ण और दुर्गापरक स्तोत्रों की रचना उनके समय में हुई, जो उनके ही दरबारी कवियों द्वारा हुई। इससे पूर्व रामायण अथवा रामकथा से संबंधित कोई काव्य हमें नहीं मिलता है।

पंजाब के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा पंजाबी आलोचक स्वर्गीय डॉ० रविन्द्र सिंह ने अपने प्रकाशित शोधप्रबन्ध 'पंजाबी रामकाव्य में रामायण' में रामकथा पर आधारित साहित्य का विभाजन पूर्वमध्यकाल (लगभग १००० ई. से १६६० ई० तक), उत्तरमध्यकाल (१६६० ई० से० १८५० ई० तक) करते हुए विस्तारपूर्वक लिखा है। इसके अतिरिक्त १८५० ई० से लेकर अब तक के रामकथा साहित्य का भी कई दृष्टियों से परिशीलन किया है, जिसका उल्लेख विस्तारभय की दृष्टि से प्रस्तुत पत्र में नहीं किया गया है। रामायण तथा रामकथा पर आधारित गुरमुखी लिपि में लिखित/रूपान्तरित हस्तलेखों की सूची, जो दो भागों में १९६१ और १९६३ में सरदार शमशेर सिंह अशोक द्वारा संग्रहित तथा पंजाबी भाषा विभाग पटियाला द्वारा प्रकाशित हुई है।[५]

---

४. विस्तार के लिये द्रष्टव्य-पंजाबी रामकाव डॉ० रविन्द्र सिंह, पृष्ठ ५४-६० तथा पृष्ठ ६७-७४

५. पंजाबी हतलिखितां दी सूची- भाग १-२ भाषा-विभाग-पटियाला, १९६१ तथा १९६३

उसमें निम्नलिखित कृतियों का वर्णन हमें मिलता है, जैसे- अध्यात्म रामायण (अनुवादित गुलाब सिंह), अनूप रामायण (कवि कीर्त सिंह), आत्मरामायण (कवि हरि सिंह द्वारा लिखित), आदिरामायण (सोढी मिहरवान द्वारा लिखित), सतसैया रामायण (कीर्त सिंह), सार रामायण (रामदास), सुधासिन्धु रामायण (भाई वीर सिंह बल), सूर रामायण (कवि सूरदास), श्रीराम दोहावली (कवि तुलसीदास), कवित रामायण (कवि तुलसीदास), कीर्तिरामायण (कीर्त सिंह), खिलप्रकरण (महारामायण), दण्डक रामायण (तुलसीदास) पद्य बन्ध रामायण, वाल्मीकि रामायण (अनुवादित कवि संतोख सिंह), वाल्मीकि रामायण (अनुवादित हरिनाम), रामगीता (अज्ञात), श्रीरामगीता (साधु गोविन्ददास द्वारा अनुवादित), रामगीता (साधु गुलाब सिंह द्वारा अनुवादित), रामचन्द्र चन्द्रिका सटीक (कवि केशवदास), श्रीरामचरित (सूरदास), रामचरितमानस (तुलसीदास विरचित), रामचरितमानस सटीक, रामचरित रामायण (वसावा सिंह भल्ला), रामायण (कपूर चन्द त्रिखा द्वारा लिखित), रामायण रामचन्द्रोदय (कवि निहाल), अध्यात्म रामायण (साधु गुलाब सिंह कृत), रामाश्वमेध भाषा (कवि हरिनाम द्वारा अनुवादित), रामरक्षा (स्वामी रामानन्द द्वारा लिखित), रामहृदय स्तोत्र (साधु गुलाब सिंह), श्रीराम नाम प्रताप प्रकाश (श्री युगलानन्द द्वारा लिखित), भावरामामृत (गुलाब सिंह कृत), लव-कुश दी तथा (कवि साहिबदास) सुखदायक रामायण (साधु श्रीनिवास द्वारा लिखित), योगवसिष्ठ महारामायण (स्वामी रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखित), रघुवरपद रत्नावली (कवि रत्नहरि द्वारा लिखित), रामकथा (कवि बग्गा सिंह द्वारा लिखित), रामगीत (कवि मोर सिंह), रामचरित (कृष्ण लाल), पोथी रामायण तुलसीदास की, राम रहस्य (रत्नहरि द्वारा लिखित), रामायण (कवि चन्द्र)रामायण (कवि राम सिंह), रामायण पापखंडिनी (कवि चन्द्रहरि), रामायण पुराण (कवि साहिब राम), लघु रामायण (कवि राम सिंह), लव-कुश कथा (भर्तृहरि शतक सहित) साहिब दास द्वारा लिखित इत्यादि प्रमुख हैं। पंजाब भाषा विभाग पटियाला की ही हवाला लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों विवरणात्मक सूची जो पंजाबी में १९९१ में प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुई है।[६] उसमें पौरखेय रामायण, एक श्लोक रामायण, २५० वर्ष पुरानी वाल्मीकि रामायण तथा अन्य रचनाएं और महर्षि वाल्मीकि रामायण के दो हिस्से (लगभग १५० वर्ष प्राचीन) जो पोथी के आकार में हैं तथा खस्ता हालत में है, का भी उल्लेख मिलता है।

वस्तुतः, पंजाब भाषा-विभाग पटियाला द्वारा प्रकाशित हस्तलेखों की सूची में केवल भाषा-विभाग ही

६. पंजाबी हत्थलिखितां दी विवरणात्मक सूची-भाग भाषा विभाग पटियाला प्र० संस्करण १९९१ १९६१ तथा १९६६.लैक्चर्स ऑन मैनुस्क्रिप्टोलॉजी, प्रो० व्रजविहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, २००७. डिस्क्रिप्टिव कैटालाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला, पंजाब८.सिम्पलीफाइड कैटालाग आफ सिलैक्ट मैनुस्क्रिप्ट इन गुरमुखी स्क्रिप्ट भाई गुरदास लाइब्रेरी, गुरनानकदेव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, १९९२४३

नहीं, अपितु अन्य पुस्तकालयों, संस्थानों, निजी संग्रहों के पंजाबी (गुरमुखी लिपि) भाषा में रूपान्तरित हस्तलेखों की सूची भी सम्मिलित है, जिनमें सैन्ट्रल पब्लिक लाइब्रेरी पटियाला, सिख रेफ्रेंस लाइब्रेरी अमृतसर, पंजाब साहित्य अकादमी लुधियाना, पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, कान्ह सिंह पुस्तकालय नाभा इत्यादि प्रमुख हैं। अन्य प्रमुख व्यक्तियों तथा निजी संग्रहों का उल्लेख होशियापुर से प्रकाशित वैदिक मैनुस्क्रिप्टोलॉजी नामक पुस्तक में देखे जा सकते हैं।[७] इसके अतिरिक्त डिस्क्रिप्टिव केटालॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला[८] कैटालाग ऑफ सिलेक्ट मैनुस्क्रिप्टस इन गुरमुखी क्रिप्ट गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी अमृतसर,[९] कैटालॉग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु भारत-भारती अनुशीलन संस्थान पंजाब विश्वविद्यालय होशियारपुर[१०] आदि में भी रामायण पर आधारित हस्तलेखों/उपरलिखित रचनाओं का उल्लेख मिलता है। निजी संग्रहों में पटियाला के डॉ० गण्डा सिंह, प्रो० प्रीतम सिंह, स०शमशेर सिंह आदि प्रमुख हैं। अभी हाल में ही हिमाचल प्रदेश के जिला ऊना से रामचरितमानस का सम्पूर्ण हस्तलेख ग्रन्थ जो गुरमुखी लिपि में प्राप्त हुआ है, जो विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु भारत-भारती अनुशीलन संस्थान पंजाब विश्वविद्यालय होशियारपुर के हस्तलेख विभाग में सुरक्षित है।[११] इस प्रकार पूर्व मध्यकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल तक रामायण तथा उस पर आधारित पंजाबी साहित्य का विशाल साहित्य रचा गया, परन्तु अधिकांश साहित्य ब्रज-भाषा में लिखा गया तथा उसका रूपान्तरण गुरमुखी में हुआ।

आधुनिक काल अर्थात् १८५० ई० से अब तक पंजाबी साहित्य में सम्पूर्ण रामायण अथवा रामकथा के तौर पर पांच मौलिक कृतियों एवं दो अनूदित रचनाओं का वर्णन मिलता है। मौलिक कृतियों में कवि अमर सिंह अहलूवालिया की अमर रामायण रामलुभाया दिलशाद कृत पंजाबी रामायण, कवि चक्रधारी बैजर की सुन्दर रामायण, कालिदास गुजरावालिया की रामायण तथा ब्रजलाल शास्त्री कृत रामगीत के नाम मिलते हैं। तुलसीकृत रामचरितमानस के दो काव्य अनुवाद भी पंजाबी कवियों-गुरमुख सिंह प्रेमी तथा हरपाल सिंह बेदी ने किये हैं। फुटकर कृतियों में सीता स्वयंवर, सीता वनवास, लव-कुश युद्ध प्रसङ्ग, भरतमिलाप, राम वनवास इत्यादि प्रसङ्गों का किस्सा गायकों ने काव्य विषय बनाया है।[१२] इन कृतियों में कवि रामलुभाया दिलशाद कृत पंजाबी

---

७. लैक्चर्स ऑन मैनुस्क्रिप्टोलॉजी, प्रो० व्रजविहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, २००४

८. डिस्क्रिप्टिव कैटालाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला, पंजाब

९. सिम्पलीफाइड कैटालाग ऑफ सिलैक्ट मैनुस्क्रिप्ट इन गुरमुखी स्क्रिप्ट भाई गुरदास लाइब्रेरी, गुरनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, १९९२

१०. कैटालॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स (बी०बी०आई०एस०एण्ड आई०एस०, पंजाब विश्वविद्यालय होशियारपुर) भाग१-२

११. वही

१२. द्रष्टव्य-रामकाव, डॉ० रविन्द्र सिंह, भाषा विभाग, पटियाला, अगस्त १९७१

रामायण एक प्रतिनिधि रचना है। इसमें कवि ने पंजाबी रामायण की कथा को वाल्मीकि-रामायण के अनुरूप सात काण्डों में विभक्त किया है। यद्यपि वाल्मीकि ने कांडों को सर्गों में विभक्त किया है, किन्तु दिलशाद ने काण्ड के अन्तर्गत उपशीर्षक दे रखे हैं। रामलुभाया दिलशाद ने वाल्मीकि-रामायण की कथा का संक्षिप्त रूप बनाया है, तथापि प्रासंगिक कथाओं के कुछ प्रसङ्गों को उसे अपनी रचना में लिया है। कवि की चेतना रामायणकालीन संस्कृति एवं आधुनिक पंजाब के संस्कारों के बीच एक पुल का कार्य करती है। प्रो० मनमोहन सहगल ने अपने लेख के अन्तर्गत रामलुभाया दिलशाद कृत पंजाबी रामायण के कथानक तथा अन्य पक्षों का कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[१३] प्रो० रविन्द्र सिंह रवि ने भी पंजाबी रामायण के कई पक्षों का अनुशीलन अपने शोध प्रबन्ध में किया है।[१४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक के उपलब्ध हस्तलेखों (रचनाओं) के आधार पर रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि के राम तथा उनसे संबंधित जीवन या जीवन के किसी भी प्रसङ्ग का लेकर विशाल काव्य साहित्य रचा गया है, जो रामायण के प्रभाव को दर्शाता है। जिस प्रकार भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रान्त की भाषा के साहित्य पर रामायण का प्रभाव रहा, उसी प्रकार पंजाब भी रामायण के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। वाल्मीकि रामायण के आधार पर न जाने आज तक कितने कवियों, लेखकों को प्रेरणा मिली है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि प्रो० रविन्द्र सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध पंजाबी रामकाव्य में पंजाबी साहित्य के आदिकाल से आधुनिक युग तक के यथासंभव जो भी हस्तलेख या अन्य सारे साहित्य का सुन्दर और विस्तारपूर्वक ढंग से परिशीलन किया है। अभी भी इसी दिशा में कई दृष्टियों से शोध करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसके लिये संस्कृत, हिन्दी और पंजाबी के विद्वानों का सहयोग आवश्यक है।

पंजाब में वेदों के पश्चात् रामायण का प्रभाव इतना रहा कि गुरुओं की वाणी में, तीर्थ स्थानों के नामों, मनुष्यों के नामों, शहरों तथा गांवों के नामों, त्यौहारों तथा लोकोक्तियों में राम तथा उनसे संबंधित कहावतों आदि का स्पष्ट प्रभाव आज भी दिखायी देता है। उदाहरणतः पंजाबी लोकगीतों में रामायण के आदर्शों की स्थापना का स्वरूप कुछ इस प्रकार मिलता है-

धरती जेड गरीब न कोई, इन्द्र जेड न दाता।
ब्रह्म जेड न पंडित कोई, सीता जेड न माता॥
लक्ष्छमण जेड जती न कोई, राम जेड न भ्राता।

---

१३. रामकथा विविध आयाम- प्रधान सम्पादक डॉ० भागीरथ मिश्र, पृष्ठ २४०-२४९, प्रथम संस्करण १९८७
१४. पंजाबी रामकाव डॉ० रविन्द्र सिंह

दुनिया माण करदी, रब्ब सबनां दा दाता।।[१५]

एक अन्य कहावत में राम जैसा आदर्श पति और लक्ष्मण जैसा आदर्श देवर पंजाबी लड़की का सपना है।

(क) बाबुल जी इक मेरा कहिण कीजिए, मैणूं राम रतन वर दीजिए।[१६]

(ख) मैं ता वर मंगा सी राम, छोटा दयोर लक्ष्मण होवे।[१७]

(ग) मां आखे शिशपाल पिता कहे असुर है, वीर कहे श्रीराम, भवो कहे कृष्ण है।[१८]

इसी प्रकार विवाह के समय वर (लाडे) अथवा वधू (लाडी) की तुलना सीता को ब्याहने आये राम से की जाती है-

छन्द परागे आइए जाइए छन्द परागे हंस।
सीता तायी विहाउण आये राम सूरज वंश।।[१९]

इन लोकगीतों में लगभग समूची रामायण कथा के भिन्न-भिन्न प्रभावशाली प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है।

अज पुछदी मात कौशल्या, कित्थे मेरा राम गया।
की कीता ई सौकणे नारे, वणां नू मेरा पुत्त तोरेया।।
पयी रैंदी अयुध्या सारी, अज श्रीराम बिना।
धन-धन वे वीर तेरी मां, जिन तू चानण जाया।।
राजे जनक घर सीता जन्मी, श्रीरामचन्द्र वर पाया।[२०]

लोकगीतों के अतिरिक्त बहुत से मुहावरे जैसे- रामरौला, रामकार, रामदुहाई, घर का भेदी लंका ढाये इत्यादि का प्रचलन भी पंजाबी जनमानस का रामकथा के सम्बन्ध का प्रतीक है। त्यौहारों में रामनवमी, दशहरा तथा दीवाली आदि पंजाब में बड़े हर्षोल्लास और श्रद्धा के साथ आज भी प्रतिवर्ष मनाये जाते हैं। दशहरे से

---

१५. वही, पृष्ठ ५३-५४

१६. वही

१७. वही

१८. पंजाब के लोकगीत- डॉ० एम०एस० रंधावा पृष्ठ-९८

१९. अमृता प्रीतम-मौली ते मेहन्दी, पृष्ठ ८५

२०. वही, पृष्ठ-९१

पहले रामलीला का प्रचलन शहरी और देहाती दोनों क्षेत्रों में देखने का मिलता है।[२१]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यकाल में पंजाब में गुरु काव्य तथा गुरु विचार आदर्श के प्रचार प्रसार के अधिक प्रभावशाली होने से कोई और काव्य परम्परा अथवा जीवन आदर्श अपना स्वतन्त्र तथा प्रभावोत्पादक अस्तित्व नहीं रख सका, परन्तु सम्पूर्ण उपलब्ध हस्तलेख साहित्य, जो आज हमें उपलब्ध है तथा प्रकाशित है उसका अध्ययन करने के पश्चात् यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रामायण का प्रभाव आज भी उतना ही गहन तथा स्वतन्त्र रूप से जनमानस और साहित्य पर दिखायी देता है, जितना भारत के किसी अन्य प्रान्त के साहित्य तथा जनामनस पर है। यह अलग बात है कि पंजाब में गुरु-ग्रन्थ-साहिब अथवा गुरवाणी का प्रचार प्रसार आज सर्वाधिक रूप में है, लेकिन सदियों से विश्वविख्यात महर्षि वाल्मीकि की रामायण कथा और तुलसीदास कृत रामचरितमानस पंजाब के जन-मन पर आज भी अंकित है तथा नव साहित्यकारों के लिये प्रेरणादायक है। पंजाबी रामायण तथा अन्य उल्लिखित रचनाएं पंजाबी भाषा की गौरवमयी कृतियाँ हैं, जिनका स्वतन्त्र अध्ययन आज की आवश्यकता है।

---

२१. द्रष्टव्य-संस्कृत तथा पंजाबी के सम्बन्ध डॉ० श्यामदेव पाराशर, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर-१९९०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१८५-१९०)

Concept Yoga and Moksha in *Nāth* and Ayurveda Tradition

Dr. S.K. Joshi[1]

Nāth tradition was popular by numerous nomenclatures in different texts.[1] According to the *Brahmānanda; Adināth* is the ancestor of *nāth* tradition. *Siddha-mata*[2], *siddha-mārga*[3], *yoga-mārga*[4], *yoga-sampradāya*[5], *avadhoot-mata*[6], *avadhoot-sampradāya*[7] is the popular synonyms of *nāth* tradition. *Yoga-mārga* and *yoga-sampradāya* are two meaning full nomenclature of *nāth* tradition, because the practice of yoga is the main curriculum of *nāth* tradition. In this tradition the yogis achieve highest state of consciousness by practicing yoga.

The science of yoga is popular in this country since time immortal. We get many references of yoga science in different *upanishadas*. The content of some afterwards *upanishadas* is totally based on the yoga science. According to *Yāgyavalakya, Hiranyagarbha* is the first narrator of this knowledge. According to *Vāchaspati Mishra,* commentator of *yoga-darshana, Pātanjali* has re-introduced the knowledge invented by the *Hiraṇyagarbhā* in *yogadarshana*. This text is comprises of *1- samādhipāda 2. sadhānpāda 3. vibhutipāda 4. kaivalyapāda.*

According to *Maharshi Pātanjali* to hamper the physiological activity of mind is the state of yoga. *Astānga yoga* is essential for the purification of consciousness. It is comprises of *yama, niyama, āsana, prānāyāma, pratyāhāra, dhāraṇā, dhyāna and samādhi.* In these fractions first five are external and later three are internal. All these eight parts are external for the *asampragyāta samādhi* (in which the distinction between the knower, the knowledge and the known vanishes absolutely).

The *hatha yoga* propagate by *Gorakshanāth* was not very different from the conventional *Pātanjali's astānga yoga*. This science was basically rest upon the practice of *prānāyāma*. According to *siddha-siddhānta-paddhati* 'ह' means Sun and 'ठ' means moon. The association between the Sun and moon is known as *hatha yoga.*

According to *Brahmānanda, surya* represents *prāna vāyu* and *chandra* represents *apāna vāyu*. To combine both the *vāyu* to hold the breath by the practice of *prānāyāma* is *hatha yoga*. In another explanation the *idā nādi* represents sun and *pingalā nādi* represents moon so the practice of flowing *prāna* in to *sushumnā nādi* after blocking Ida and *pingalā nādi* is *hatha yoga*.

In *yoga swarodaya, hatha yoga* is divided in to two sections. First comprises of *āsana, prānāyāma* and *şata-karma* (*nauli. neti, dhauti, vasti tratakā, kapāl-bhāti*). These procedures purify all body channels specially when the *vāyu* is filled in purified

---

1 B.A.M.S., M.D.Ay. (B.H.U.), Reader & Head of the Department, Additional Medical Superintendent, Govt. Ayurvedic College & Hospital, Gurukul Kangari, Haridwar

energy channels it helps to concentrate or inactivate the mind. With this process divine bliss is achieved. In second section the process of concentration is discussed according to this procedure one has to concentrate the sight on the tip of the nose and try to remember the light of billions of Sun in the sky and try to concentrate the white, red, yellow and black colors by doing this practice the practitioner gets long life and immediately get enlightenment and emerges into the ultimate divine power. It is a well-practiced and experienced way of spiritual practice.[1]

It is documented by some scholars, that there are two approaches of hath-yoga. First way of *hath-yoga* was popular prior to *Gorakshanāth*, which was orated by *Markandeya*. It was the follower of *astānga pātanjale yoga*. In second way they recognize six parts (*şadanga yoga*) [2]. A hath yogi cannot get the higher state of consciousness without the awareness of the body anatomy. He cares about the *agni chakra*, a triangular place situated at the base of vertebral column in between the rectum and penis. The *swayambhu linga* is situated over here, which is encircled by three and half circle serpentine *kundali*, which is lying in inactive phase. It is the representation of the *mahākundalini şakti* (supreme power of the universe) in the body. The main aim of a yogi is to activate this divine power (*kundalini udbodhana*) by the practice of *hatha yoga*. It is said that *hatha yoga* is the key of achieving the higher state of consciousness. It is the easiest and sure shot way of *kundalini jāgaran*[3].

According to the *hatha yoga* there are three main powerful subjects in the human body but due to instability they do not contribute or help to the human being. First and important thing is *bindu* or semen. If it can be diverse to flow in the upward direction, remaining two things can also be controlled. Remaining two things are *vāyu* (breath) and *mana* (mind). As per principle of *hatha yoga* if one of these three is controlled remaining two also get controlled with out extra efforts. The *bindu* or semen can be controlled and diverted to flow in upward direction by *brahmacharya* and *prānāyāma*. But for this process the purification of body channels is necessary. *Hath yogi* performs this process with *şata karmas*.

Concept of yoga and *moksha* in *Ayurveda*

The Indian science and philosophy is based on *şada darşans. sānkhya, nyāya, vaiśeşika, yoga, meemānsā and cārvāka* are *sada darshanas*. The *Ayurvedā* (Science of life) is influenced by *yoga-darshan* as well as other *darśanas*. It is documented in the main text of *Ayurvedā, Charaka-samhitā* that the diseases free condition is the best source of virtue, prosperity, satisfaction and liberation.

When diseases congregated creating impediment and disturbances in penance, self-discipline, study celibacy, religions observances and life span of living beings. The sacred great sages, out of compassion on creatures, assembled on one of the propitious side of the Himalayas.

Amongst them with other Scholars *Mārkandeya rishi* was also present, who was the great scholar of *yoga-darśana*. According to the *Caraka samhitā 'ayus'* means the conjugation of body, sense organs, mind and soul.

All sensations come to an end to survive in the state of yoga and *moksha* (liberation). In *moksha*, the cessation is absolute while *yoga* leads to with the aim of contentment and misery take place due to contact of the soul, sense organs, mind and the sense objects but when the mind is progressively concentrated to the soul, mutually come to an end to stay alive due to non-initiation and a super natural power comes onwards in the human being. According to the proficient this situation is acknowledged as *yoga*.

Inflowing into others body, knowledge and information of other's mind, doing things at contentment, mystical vision, supernatural hearing power, superhuman memory, superhuman brilliancy and vanishing at pleasure these eight qualities are said as supernatural supremacy of *yogis*. It is possible only due to attentiveness of wholesome mind.

Moksa (liberation or release from the vicious cycle of death and rebirth) is likely by nonexistence of *rājas* and *tāmas*, obliteration of the persuasive precedent deeds and detachment from all the conjunction. It is also assumed as nonexistence of rebirth. Keeping in touch with the saints, avoidance of the immoral values, observance of vow, fasting and other regulations, study of religious and spiritual scriptures, thoughtful understanding, attachment to lonely places and detachment from worldly enjoyment and pleasure, endeavor for liberation, immense self-discipline, non-initiation of action, destruction of past deeds, inclination to getting out, liberty from ego or self-esteem, realizing fear in conjunction, concentration of mind and body, critical analysis of the truth-seeking reality-all this arises due to emergence of the memory of reality In that situation of ultimate renunciation, all feelings and sensations with their root causes along with consciousness, knowledge and understanding abolishes completely.

There are seventy-two thousands *nādis* which are carrying the *prāna vāyu* but *suşumnā* is important one, because when the *prāna vāyu* flows in this channel and travels in upward direction and capable to emerge into the *sahastrāra cakra*. It is the condition of *kundalini jāgarana. ṇāş ś*

According to *Gorakshanāth* the person who is unaware of *şata-cakra, solaha-adhara, do-lakshya* and *vyoma-panchaka*, cannot get the ultimate divine bliss and attainment. *şata-cakras* are discussed earlier. *Solaha adhara* means sixteen places where a yogi has to concentrate the sight for the meditation are *padangustha*(big toe), *mulādhāra, guhyādhara, bindu-cakra, nadyādhāra, nabhimandlādhāra, hridayādhāra, kanthādhāra, kshudraghantikādhāra, talvantādhāra, rasadhāra, urdhvadantāmula, nāsikāgra, nasāmula, bhrumadhyādhāra* and *nethrādhāra*

All these sixteen places are outer spots or aims for the concentration of mind. The six internal places or aims for the concentration are *śata cakras*. These come under the heading of *do lakshya* (two aims). *Panch-vyomas* are presumed for the meditation. 1. *sweta varna jyoti rupa vyom 2. rakta varna jyoti rupa pruvasha 3. dhumra varna mahakasha 4. neela varna jyoti rupa tatvaka a 5. suryakash*

These different kinds of meditations can be solved with the practice of *asana, prānāyāma* and *mudrā. Goraksha nāth* has emphasized the importance of *brahmachāry* for the practice of *hatha-yoga*.

The aim of *yoga* and *ayurveda*

The aim of *yoga* is the achieve the ultimate state of consciousness but with the help of yogic practices one can keep his body healthy specially he can enjoy the illness free long life and it fulfills the aim of *Ayurveda*.

As well as these practices are very much helpful to eradicate a number of diseases. This method is also known as preventive and drug less treatment. In mass it is the only way to fulfill the health needs of the day.

In *hatha-yoga* among 84 lack postures of all creatures of this universe, 32 postures are mentioned for the spiritual practice. *Siddhāsana, goraksāsana, matsyendrāsana, ardhamatsyendrāsana* are referred to the *nātha-yogis*.

The holding of breath is the yogic way of rejuvenation for a *yogi*. By the practice of *prānāyāma* twenty one thousand six hundred breaths in day and night becomes regular, it also purifies the seventy-two thousands *nādis*. According to *Yagyvālākya, prānāyāma* is the more influential and only method of body purification. There is no need of *shata-karmas* or *shadanga-yoga* to a person who is practicing the *prānāyāma*. Practice of inhaling from the left nostril and exhaling from right nostril with out holding of breath was invented or provided by *Matsyendra nāth*. This kind of *prānāyāma* is also known as *anuloma-viloma prānāyāma*.

We can say that *Matsyendrānath, Jālandhara pada* and *Gorakshanāth* with other scholars of *nāth* tradition contributed a lot in the development of *astānga yoga*. The *nāth yogis* are the main contributor after *maharshi Pātanjali* in the development of *yoga*-science.

It can be concluded that *mudrā* (Special position of fingers and hand or some body part during spiritual practices), *āsanās* (body postures), *prānāyāma* (regulation of breath), *nādānusandhāna* (search for appearance of divine sound), *pind* or *deha suddhi* (purification of body), *shata-cakra-bhedana* (sequential piercing of six energy channels) and *kundalini-udbodhana* (to achieve the ultimate state of consciousness) are main essentials of *nāth-yoga*.

Functioning of *yoga āsana* and *prānāyāma*.

How *yogāsana* and *prānāyāma* affect body and mind? And what is the scientific basis of it? How we can keep the body and mind fit and energetic by keeping a body part in special posture? These are some questions, which used to arise in the mind of a student and practitioner of yoga science. In this reference it is important to know that the human body has some vital points (*marma*). There are 107 *marmās* in the human body. They are source of energy and having specific function related with the body organs. Any *traumā* to these parts may be fetal and can produce many complications. When we stretch, vibrate and pressurize these points (*marmās*) they get affected by the rhythmic movement of *prānāyāma* and *āsanas*. The function of organs related with the particular *marma* gets affected. So it can be said that the stimulation of *marma* with *āsana* and *prānāyāma* affects the body and mind. In *hata yoga pradipikā* a number of *āsanas* are described. Among them *padmāsana, siddhāsana, ardhamatsyendrāsana, yogamudrāsana, gorakshāsana* are important and referred to the *nāth yogis.*

In *padmāsana* both heels give pressure on *vitapa marma*. Regular practice of *padmāsana* is helpful in *varicocele, hydrocele* and hernia. Practice of *ashwini mudrā* in *padmāsana* gives very good results in piles, *prolapse* of rectum, *prolapse* of uterus and benign prostatic *hyperplasiyā*.

In *siddhāsana* there is pressure of heels on *gudā* and *vasti marma*. It is helpful in the disease of anus and urinary bladder. Especially it affects in retention of urine, *atony* of bladder.

In *ardha-matsyendrāsana* there is pressure on the *marmās* of back, neck and abdomen. It is most important asana, which affects a number of *marmās* at one time. It is very affective liver, spleen and kidney. It also cures the pain of back and other joints.

In *yoga mudrāsana vasti, nābhi, lohitāksha, stanarohitā* and the *marmās* of back are affected. It is affective in hernia, naval displacement and the diseases of back.

In *gorakshāsana vasti, gudā, vitapa, lohitāksha* and the *marmas* of lower extremity get affected. It is beneficial in ano-rectal diseases, appendicitis and other abdominal diseases.

The *prānāyāma* is very good exercise for the lungs, heart and diaphragm. In *kapāl bhāti* there is provocation of voluntary movement of diaphragm. One can improve the blood circulation of the organs situated in the abdominal cavity. It is the forceful method of inspiration and expiration. By the *prānāyāma* for types of reactions takes place in the body. 1. Physical reaction.2. Chemical reaction.3. Biochemical reaction. 4. Hormonal changes. In spite of the main aim of *hatha-yoga (Kundalini-jāgrana)* these practices help to provide better physical and mental health to suffering humanity.

At last I conclude my lecture with the prayer of lord *shiva* for the blessings.

Reference-

1. Commentary of *Hath yoga Pradeepik prānāyāma* by *Brahma nanda*(1-5)
2. *Groaksa Nāth Siddhānt Samgraha* page 12
3. *Yoga beeja*
4. *Goraksa Nāth Siddhānt Sangraha* page 5,2
5. *Goraksa Siddhānt Sangraha* page 58
6. *Goraksa Siddhānt sangraha* page 18
7. *Goraksa siddhānt sangraha* page 56

गुरुकुल-शोध-भारती अक्तूबर २००७ अङ्क ८ (पृ०१९१-२०४)

Effectiveness of Yoga Therapy for the management of Anxiety of the Female Adolescents

Dr. Rita Bhalla[2] and Dr. Anup Sud[3]

The study aims primarily to find out the influence of yoga therapy in curtailing state, trait anxiety, and test anxiety of Arts (25 treatment group subjects and 25 control group subjects) and Science (25 treatment group subjects and 25 control group subjects) female adolescent subjects (N=100). Results revealed that the yoga therapy is effectual in curtailing state and trait anxiety of all the subjects under treatment. With regard to test anxiety, only the Science subjects showed significant reduction and not their Arts counterparts.

Introduction

Adolescence is that span of one's life where change is inevitable in almost all spheres of life, be it physical, psychological, social, behavioural, or environmental. Transitions occurring at fast pace and in almost all spheres make this age risky. There are many reasons that account for the adolescents feeling irritated and confused.

The adolescent has to deal with conformity to the peers, family, teachers and also to the norms of the society, home and institute, which all may not be same and oppose each other leading to greater level anxiety among them. Hallman (1994) refers to anxiety as the behavioural and physiological responses directly induced by a situation, as an appraisal of the response and their effects, as a person's intentions towards stimuli and as a person's evaluation of the resources available for dealing with it.

Problems faced by the adolescents are unlimited and coping with them seem even more difficult leaving the adolescent in turmoil and confusion. Mostly adolescents with anxiety trait experience the reactions typical of the anxiety state. When one refers to anxiety as an arousal, one refers to anxiety as a state and when one distinguishes between students who tend to be anxious and those who are non-anxious, one is referring to anxiety as a trait. Trait anxiety has been defined as relatively stable individual differences in anxiety proneness whereas state anxiety is characterized by subjective, consciously perceived feelings of tension and apprehension and heightened autonomic nervous system activity (Spielberger, Gorsouch & Lushene, 1970). State anxiety is an emotional state identified in conceptions of anxiety as a multicomponent process whereas trait anxiety merely reflects individual differences in anxiety

[2] Department of Yoga, Himachal Pradesh University, Shimla-5 India
[3] Department of Psychology, Himachal Pradesh University, Shimla-5 India

proneness. When adolescent's personality trait is mostly accompanied by disorganization, self-criticism, lack of inter personal skills, inability to cope up with situations anxiety is caused.

Educational psychologists have studied test anxiety, or the emotional states the students experience under the stressful conditions of taking a test. According to Sarason (1972, 1978) test anxiety may be conceptualized as a proneness to emit self-centered interfering responses when confronted with an evaluative situation. Test anxiety is experienced when the characteristics of anxiety are associated with academic or evaluative situations. Anxiety among adolescents may be situational such as in case of test or examination or else may be exhibited during stage fear. Anxious students may have difficulty in learning, transferring knowledge that they have and have difficulty demonstrating their knowledge on tests. Academic, parental and social pressure generates great deal of anxiety among students (Sanghvi, 1995).

Approaches to deal with anxiety of life cannot be restrained to repressed impulses or behaviour modifications or thought refinements independently. Adolescents who are in a multi dimensional problem situations where coping becomes difficult and leads to anxiety need rectification for proper growth. A holistic yoga therapy, which promotes an individual's well being, prevents him from getting entrapped in the anxiety imposed by the world and its problems and cures his ailments is what adolescents need today. Sinha (2002) thus suggests that yoga as a science is universally accepted as no other science matches its quality, content, methodology, process and its contributions.

Murthy (2002) states " yoga builds the qualities to combat with stress and strain, channelize our emotions so that we become calm, serene and equipoise. Our thoughts and actions become clear helping our responses and reactions to become highly positive." different relaxation techniques, yoganidra, asanas, kriyas, pranayama have proved beyond doubt the efficacy to bring the above discussed qualities in life. One's regular practice of postural exercises (Asanas), deep breathing exercises (Pranayama) and meditation (Dhayana) shows remarkable results in maintaining good physical and mental health. The holistic perspective has established a foothold in modern medicine and psychotherapy. In the yogic model, medical, psychological and spiritual needs are dealt with as a whole. Yoga therapists relate to human beings as a whole and seek to understand how the varied aspects of an individual functions together. Yoga involves the mind-body- spiritual integration, which helps adolescents develop and enhance into better generation of tomorrow.

Methodology

The study aims to find out the influence of yoga therapy in curtailing state, trait anxiety, and test anxiety of Arts and Science female adolescent subjects.

The *sample* comprises of a hundred female adolescent +1 and +2 students, within the age range of 16-19 years. Out of the randomly selected sample of 50 Arts and 50 Science subjects, 25 Arts and 25 Science subjects participated in yoga therapy treatment workshop. The rest 25 each subjects were taken as no treatment control groups. The sample was controlled in terms of educational qualification, gender, age and institute.

The ***experimental design*** used in this study is a (2x2x2) AXBXC analysis of variance design. 'A' here denotes two class of subjects (Arts and Science), 'B' denotes the two groups (Yoga therapy treatment group and no treatment control group), and 'C' denotes the two trials (pre and post). The subject groups are abbreviated as Arts treatment group one TGI(A), Arts no treatment control group one CGI(A), Science treatment group two TG2(S), Science no treatment control group two CG2(S).

The ***Inventories*** used are:

(1) (STAI-X1) State Trait Anxiety Inventory X-1 (Spielberger, Gorsuch & Lushene,1970) : The STAI-X1 form consists of twenty items indicating statements so as to how one 'feels at that moment' measuring the state anxiety. Each statement has four response options 'Not at all', 'Somewhat', 'Moderately so', and 'Very much so'. The highest one can score is 80 and the lowest is 20. The test- retest reliability of A-State scale for college undergraduates ranged from .16 to .54. The Alpha coefficient provided a more meaningful index of reliability of A-State than test- retest correlations, which for high school female is .92.The concurrent validity showed a positive correlation (.47) between the hostility scale of the (MAACL) Multiple Affective Adjective Checklist (Zuckerman & Lubin) and the A-State scale.

(2) (STAI-X2) State Trait Anxiety Inventory X-2 (Spielberger, Gorsuch, and Lushene, 1970): This inventory consists of a form comprising of twenty items each. The STAI-X1 form indicates statements so as to how one feels 'generally' measuring the trait anxiety. Each statement has four response options 'Not at all', 'Somewhat', 'Moderately so', and 'Very much so'. The highest one can score is 80 and the lowest is 20.The test retest reliability of A-Trait scale for college under graduates ranged from .73to .86.The test- retest reliability of A-Trait for females is .76. The alpha reliability for A-Trait for high school students females is .92.The concurrent validity of STAI-X2 (A-Trait) scale shows high correlation with IPAT Anxiety Scale (Cattell & Scheier ,1963), TMAS Taylor (1953) Manifest Anxiety Scale and AACL Affect Adjective Checklist (Zuckerman,1960). For college female student, moderately high correlations among A-Trait Scale and IPAT, TMAS and AACL with .75, .80 and .52 respectively has been seen.

(3) <u>(TAI-H) Test Anxiety Inventory</u> (Sud and Sud,1997) : This Hindi inventory comprises of twenty items , each consisting of four response options 'Almost never', 'Sometimes', 'Often', and 'Almost always'. The highest one can score is 80 and the lowest is 20.The inventory assesses individual differences in anxiety proneness in test or examination situations. The reliability of the Hindi TAI-H, in terms of a high alpha coefficient (.89 and .83) for high school boys and girls attested to the high degree of the internal consistency of the Hindi TAI. The concurrent validity was observed from the very high correlation obtained between TAI-H and TAS (.85 for girls). The moderate correlation between TAI-H and Hindi STAI-T scale was (.61for girls) depicting a relationship as expected between a situation specific measure of test anxiety and general anxiety (Sharma, Sud & Spielberger,1983). The low negative but significant correlation with a non verbal measure of intelligence (r = -.21,<.01) and with academic achievement (r = -.26,<.01) provide preliminary evidence of the construct validity of Hindi TAI (Rao,1979; Sharma et al.1983).

The *Yoga Therapy Programme*:

Everyday prior to the actual session 'Om Chanting' was carried out by the subjects in a relaxed posture. The workshop included pranayama, sukhsham vyam, mudars, asanas and meditation. The '*pranayamas*' taught to the subjects included suryabedi, sitali, sitkari, bhastrika, bhramri, ujjai and kapalbhati, each of them having their own special effects. The *'Mudras'* that were taught to the subjects were kaki, shambhavi, bhujangi, yoni and taragi. Further '*Sukhsham vyam*' was taught in order to provide flexibility to almost each and every part of the body, relaxing every muscle, tissue, bones and joints of the body. '*Asanas*' are postures that bring strength, equilibrium to the limbs of the body. The asanas that were included in this workshop were bhujang, nauka, aeri darshan, kon, trikon, pawanmukt, vriksh, ushtra, shalabh and shav asana/yoga nidra. The *'Meditation'* procedure involved the recitation of the mantra Om in a relaxed posture and then followed by sitting in complete silence and trying to achieve a no thought state. This is a tool for relaxing oneself and improving one's power of concentration thereby introspecting oneself. The workshop profile was scheduled for a period of four weeks each week comprising of six days and forty-five minutes of daily practice. That which was performed one day was rehearsed the next day, with new add-ons.

The ***No Treatment Control Group***: These groups of subjects are not given any intervention. However the gap between the pre and post assessment trials were same as that for the yoga therapy treatment group subjects.

भ्लचवजीमेमे

प्ज ॰ ंनउमक जींज ल्वहं जीमतंचल ॰पसस इम म्मिबजपअम पद बनतजंपसपदह ेजंजम ंदगपमजलए जतंपज ंदगपमजल ंदक जमेज ंदगपमजल वि जीम जतमंजउमदज हतवनच ेनइरमबजे वि ।तजे ंदक ैबपमदबम ;ैज्ध्1 ंदक ैज्ध्2द्धण

Results

A one way analysis of variance has been performed on the pre trial scores of all the dependent variables, of Arts (treatment and control group) and Science (treatment and control group) subjects individually. While the treatment and control groups of Arts class did not differ significantly in terms of their pre trial scores of all the dependent variables. The treatment and control groups of Science class were significantly different from each other on the pre trial mean scores of (STAI-X1) *State Trait Anxiety Inventory (df1/48, F=8.69,p< .005)* and (STAI-X2) *State Trait Anxiety Inventory (df1/4,F= 9.07, p< .005)*. Thus revealing that for STAI-X1*(47.8, 41.6)* and STAI-X2*(49.48, 42.44)*, the mean score of Science treatment group differ significantly from their control group counterparts.

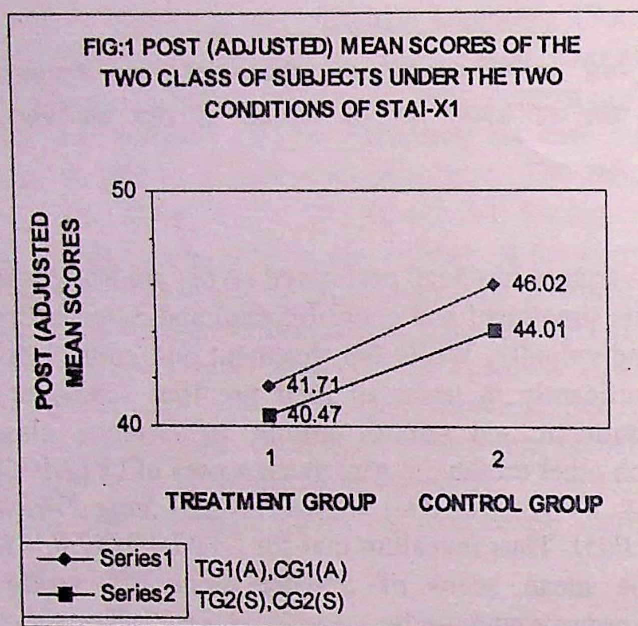
Since treatment and control groups of Science class differed significantly on the pre trial scores, the analysis of covariance has been used to analyze the effect of treatment on all the dependent variables. The treatment and control groups of both Arts and Science class were considered for this analysis.

Analysis of covariance for *State Trait Anxiety Inventory* (STAI-X1).

Through analysis of covariance the post scores have been adjusted for any variability in post scores contributed by pre scores, i.e the pre trial scores were covaried against the post trial scores. The analysis of covariance of STAI-X1 under treatment and control groups of both Arts and Science subjects, for the post (adjusted) scores is illustrated in TABLE 1. It also reveals the analysis of variance for the pre and post trials

TABLE: 1 Pre, Post and Post adjusted Means, Analysis of Covariance and analysis of variance (pre-post trials) of STAI-X1 for the treatment and control groups of Arts and Science subjects.

STAI-X1	PRE MEAN	POST MEAN	POST ADJUSTED MEAN	ANCOVA	ANOVA (pre-post trials)
TG1(A)	45.88	42.04	41.71	3.36 p<.025	6.06 p<.025
CG1(A)	45.28	46.32	46.02		0.58 NS
TG2(S)	47.8	41.68	40.47		6.87 p<.025
CG2(S)	41.6	42.4	44.01		0.42 NS



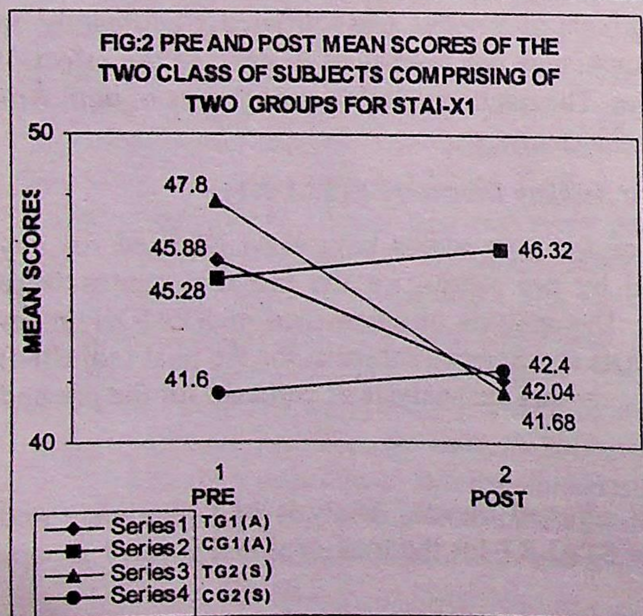


TABLE 1 and FIGURE 1 reveals that the post (adjusted) mean score of Arts yoga therapy treatment group *(41.71)* is significantly less than the mean score *(46.02)* of its no treatment control group counterpart (p<.05). The post (adjusted) mean score of Science yoga therapy treatment group *(40.47)* appear to be lower than its no treatment control group counterpart *(44.01)*, but the difference is not significant according to the Duncan's Multiple - Range Test.

In order to show if such a difference is also evident from pre to post score a separate single group analysis of variance was performed.

TABLE 1 and FIGURE 2 shows that when STAI-X1 was given at pre levels and then repeated after the treatment this mean change has turned out to be significant for the treatment group of both Arts *(df 1/24,F=6.06,p<.025)* as well as Science *(df 1/24,F=6.87,p<.025)* subjects. Thus revealing that the post mean scores of Arts and Science treatment groups *(42.04,41.68)* are significantly less than their pre mean scores of *(45.88,47.8)* respectively. Further these changes were not significant for the control groups of these respective classes.

The significant (p<.025) post (adjusted) F value reveals that the final post means of Arts and Science treatment and control groups differ significantly due to the yoga therapy intervention given to the treatment groups only, after being adjusted for initial differences in pre scores.

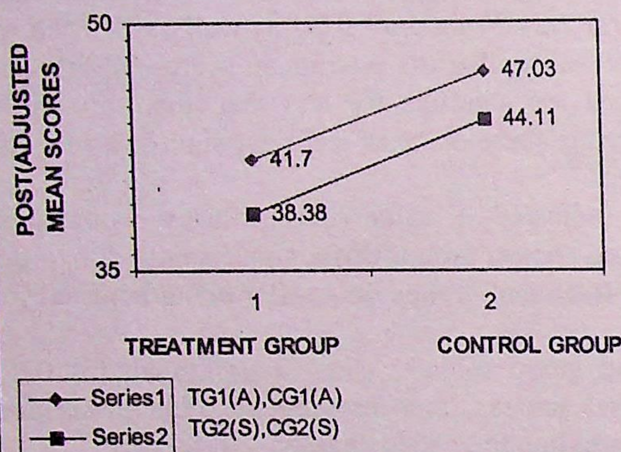
The Arts and Science treatment group subjects show a significant (p<.025) difference among the pre and post trial scores , thus proving the Hypothesis and showing the effect of yoga therapy in curtailing their state anxiety.

Analysis of covariance for *State Trait Anxiety Inventory* (STAI-X2).

The analysis of covariance of STAI-X2 under treatment and control groups of both Arts and Science subjects, for the post (adjusted) scores is illustrated in TABLE 2. It also reveals the analysis of variance for the pre and post trials

TABLE: 2 Pre, Post and Post adjusted Means, Analysis of Covariance and analysis of variance (pre-post trials) of STAI-X2 for the treatment and control groups of Arts and Science subjects.

STAI-X2	PRE MEAN	POST MEAN	POST ADJUSTED MEAN	ANCOVA	ANOVA (pre-post trials)
TG1(A)	44.52	41.2	41.70	7.49 p<.001	5.26 p<.05
CG1(A)	45.84	47.16	47.03		0.83 NS
TG2(S)	49.48	40.28	38.38		18.99 p<.001
CG2(S)	42.44	42.6	44.11		0.01 NS



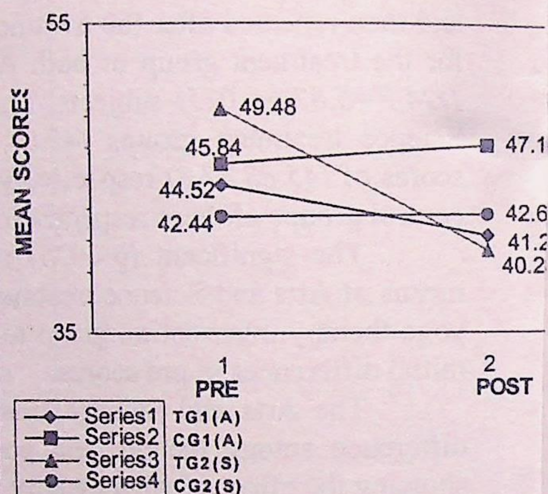


TABLE 2 and FIGURE 3 reveals that the post (adjusted) mean scores of Arts *(41.70, 47.03*and Science (*38.38,44.11)* yoga therapy treatment group are significantly less than the mean scores of their no treatment control group counterparts (p<.01), according to the Duncan's Multiple - Range Test.

Further a significant difference is also evident from pre to post score on performing the single group analysis of variance.

TABLE 2 and FIGURE 4 shows that with STAI-X2 this mean change has turned out to be significant for the treatment group of both Arts *(df 1/24,F=5.26,p<.05)* as well as Science *(df 1/24,F=18.99,p<.001)* subjects. Thus revealing that the post mean scores of Arts and Science treatment groups *(41.2,40.28)* are significantly less than their pre mean scores of *(44.52,49.48)* respectively. These changes were not significant for the control groups of these respective classes.

The significant (p<.001) post (adjusted) F value reveals that the final post means of Arts and Science treatment and control groups differ significantly due to the yoga therapy intervention given to the treatment groups only, after being adjusted for initial differences in pre scores.

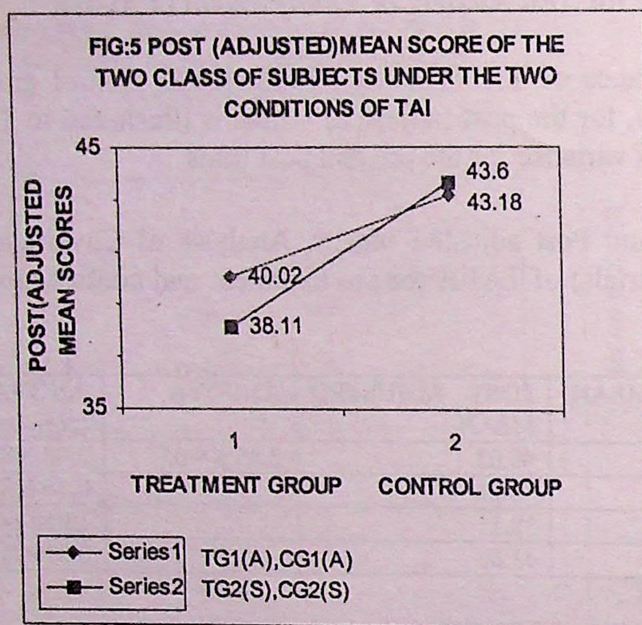
The Arts and Science treatment group subjects show a significant (p<.05, p<.001) difference respectively among their pre and post trial scores , thus proving the Hypothesis and revealing the effect of yoga therapy in curtailing their trait anxiety.

Analysis of covariance for *Test Anxiety Inventory-Hindi* (TAI-H).

The analysis of covariance of TAI-H under treatment and control groups of both Arts and Science subjects, for the post (adjusted) scores is illustrated in TABLE 3. It also reveals the analysis of variance for the pre and post trials

TABLE: 3 Pre, Post and Post adjusted Means, Analysis of Covariance and analysis of variance (pre-post trials) of TAI-H for the treatment and control groups of Arts and Science subjects.

TAI	PRE MEAN	POST MEAN	POST ADJUSTED MEAN	ANCOVA	ANOVA (pre-post trials)
TG1(A)	43.28	39.8	40.02	2.85 p <.05	2.92 NS
CG1(A)	43.72	43.2	43.18		0.16 NS
TG2(S)	45.68	39.2	38.11		13.58 p<.005
CG2(S)	42.08	42.72	43.60		0.07 NS



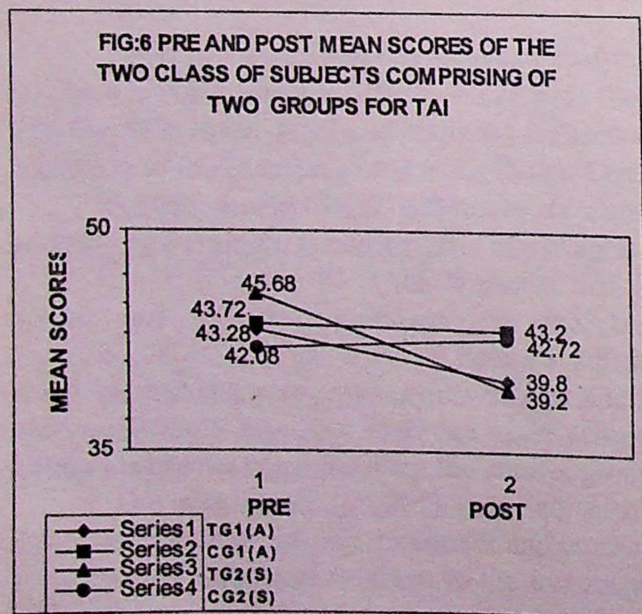


TABLE 3 and FIGURE 5 reveals that the post (adjusted) mean scores of Science yoga therapy treatment group *(38.11)* is significantly less than the mean score *(43.60)* of its no treatment control group counterpart (p<.05). The post (adjusted) mean score of Arts yoga therapy treatment group *(40.02)* appears to be lower than the mean score of its no treatment control group counterpart *(43.18)*, but the difference is not significant according to the Duncan's Multiple - Range Test.

A significant difference however is evident from pre to post score for only the Science Treatment Group on performing the single group analysis of variance.

TABLE 3 and FIGURE 6 it can be seen that the pre to post trial mean change did not turn out to be significantly different for treatment group Arts *(df 1/24,F=2.29,NS)* treatment group subjects. Whereas this mean change turned out to be significant for the treatment group of Science *(df 1/24,F=13.58,p<.005)* subjects. Thus revealing that the post mean score of the Science treatment group *(39.2)* is significantly less than its pre mean score of *(45.68)*.

The significant ($p<.05$) post (adjusted) F value reveals that the final post means of Arts and Science treatment and control groups differ significantly due to the yoga therapy intervention given to the treatment groups only, after being adjusted for initial differences in pre scores.

The Science treatment group subjects show a significant ($p<.005$) difference among their pre and post trial scores , proving the effect of yoga therapy in curtailing their test anxiety. Whereas, the Arts treatment group subjects do not show any significant difference, thus proving the Hypothesis partially for test anxiety.

Discussion

Anxiety among adolescents may be a result of their facing novel situations in all possible domains of development. Many problems arising in adolescence are related to the changing demands of this period involving physical change and maturity, general growing up and social, family, institutional and environmental pressures. Anxiety is also associated to interaction with peers, teacher and other people, cognitions and perceptions. Fear related to sexuality and it being a taboo to be talked of or discussed especially in Indian society causes anxiety. Slavin (1994) believes that anxiety is a constant companion of education. In school every student feels some anxiety at some point of time, but for some students anxiety may inhibit learning or performance especially in tests (King & Ollendick, 1989). The anxiety faced on giving a test, worrying about the results or else the pressures felt due to the high stressors of daily life are same for the adolescents regardless of the subject choice that they make. Thus anxiety, whether state, trait or test disturbs the development of the adolescent.

Yoga therapy has been effective in curtailing the state anxiety and trait anxiety proving the Hypothesis for all the subjects undertaken, whereas proving Hypothesis partially by being effective in curtailing their test anxiety for only fifty percent of the treatment subjects. The yoga therapy involving pranayama, sukhsham vyam, asanas, mudras and meditation has been effective in relaxing the students such that they have shown a decrease in their state anxiety, trait and test anxiety. Yoga therapy has helped the treatment group adolescent female subjects to feel calm, secure, rested, pleasant, contended and self-confident. It has also been effectual in making them feel less

anxious, nervous, upset or tensed on the measures of the state anxiety or their feelings reported at that moment. There are a number of studies, which suggest the role of meditation in reducing stress (Goleman & Schwartz, 1976; Linden, 1973; Patel, 1993). Yoga nidra has shown significant decrease in the stress levels and has also increased the general well being. It has also been suggested for efficient learning and in decreasing anxiety and stress (Kamakhya, 2004).

The treatment group subjects have also shown a decrease in their general worry, in dealing with the difficulties and overcoming them and not exhausting quickly. Yoga has also helped them in being a more steady person, feel happy, cool and collected on their trait anxiety measures. Yoga therapy has also shown a decrease in their trait anxiety revealing a positive trend in which the students report of having lower levels of trait anxiety or how they generally feel. Davison, Goleman & Schwartz (1984) administered the Spielberger State Trait Anxiety Inventory, the Telligen Absorption Scale and the Shor Personal experience questionnaire to four groups of subjects who were non meditating controls, beginners, short term and long term meditators. The results showed a decrease in trait anxiety and increase in measures of attentional absorption as a function of length of time meditation.

Yoga nidra has shown significant reduction in trait anxiety and hostility (Bhushan & Sinha, 2001). Yoga including asanas, pranayama and kriays has showed effective decrease in anxiety and neuroticism (Kocher, 1972).

It is however seen that with regard to test anxiety only the Science subjects have shown a significant decrease after the yoga therapy. The Arts students have shown a decrease but this decrease is not significant. The main source of anxiety in school is the fear of failure. Education and educational institutions may too be a source of anxiety among adolescents. School plays a central role in the development of adolescents as they spend most of the day's time in schools.

Adolescents who are sometimes incapable of dealing with long school hours, difficult syllabus and unable to meet the expectations of teachers have to deal with stress. School systems and activities such as huge amount of homework, long hours of study schedule, too many extra curricular activities cause anxiety and stress among adolescents. Being occupied with work and finding no time for themselves, may result in losing interest in studies. Teachers concern, indifference and rejection also may be a causal issue of anxiety. Adolescent students problems are related to issues pertaining to studies, learning, scoring grades and marks, failing, insufficient or undesirable educational guidance at times and the teacher's attitude all work as stressors at one point of time or other in the lives of the adolescents.

Yoga therapy thus authenticates itself as an effective means of changing the diverse complications that an individual is confronted with. The adolescent self, being the target of the stressors has to be strong and tough such that he is able to meet the

challenges he faces. Yoga is that therapy which helps an individual to change, such that the change in his own self will make him perceive the world and himself better. Yoga thus would not only help the adolescents overcome anxiety but also help them get rid of the negative outcomes related to it.

References

Bhushan, S., & Sinha, P. (2001). Yoganidra and management of anxiety and hostility. *Journal of Indian Psychology*, Vol.19 (1-2), 44-49.

Davison, R.J., Goleman, D.J., & Schwartz, G.E. (1984). Attentional and affective concomitants of meditation: A cross sectional study. In D.H.Shapiro, & R.N.Walsh (Eds.), *Meditation: Classic and contemporary perspectives* (227-231). New York: Aldine.

Goleman,D., & Schwartz, G.(1976). Meditation as an intervention in stress reactivity. *Journal of Consulting and Clinical Psychology*, 44, 456-466.

Hallman, R. (1994). *Counselling for Anxiety Problems*. New Delhi: Sage Publishers.

Kamakhya, K. (2004). Yoga Nidra and its impact on student's well being. *Yoga Mimamsa*, Vol. XXXVI, No.1, 31-35, April.

King, N.J., & Ollendick, T.H.(1989). Children's anxiety and phobic disorders in school settings: classifications, assessments, and intervention issues. *Review of Educational Research*, 59(4), 431-470.

Kocher, H.C. (1972). Yoga practices as a variable in neuroticism, anxiety and hostility. *Yoga Mimamsa*, 15(2), 37-46.

Linden,W.(1973). The relationship between the practice of meditation by school children and their levels of field dependence and independence, test anxiety, and reading achievement. *Journal of Clinical Psychology*, 41, 139-143.

Murthy, B.T.C. (2002). The vital role of N'Pathy and Yoga in the treatment of hypertension. *Nisargopchar Varta, The monthly bilingual magazine for better health.* Year10/Vol.5/ May.

Patel, C. (1993). Yoga based therapy. In P.M. Lehrer & R.L.Woolfolk (Eds.), *Principles and practice of stress management* (89-138, 2nd edn.).New York: Guilford Press.

Rao, U. (1979). *Effect of self-acceptance. Test anxiety, and intelligence of achievement in different school courses*. Unpublished Master of Philosophy dissertation. Shimla: Department of Psychology, Himachal Pradesh University.

Sanghvi, C. (1995). Efficacy of Study Skills Training in managing Study Habits and Test Anxiety of High Test Anxious Students. *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology*, 21(1), 71-75.

Sarason, I.G. (1972). Test anxiety and the intellectual performance of college students. *Journal of Educational Psychology*, 52, 201-206.

Sarason, I.G. (1978). The test anxiety scale: Concept and research. In C.D. Spielberger & I.G. Sarason (Eds.), *Stress and Anxiety*. Vol.5. Washington DC: Hemisphere.

Sharma, S., Sud, A., & Spielberger, C.D.(1983). Development of the Hindi form of the test anxiety inventory. In H.M. Van der Ploeg, R.Schwartzer, & C.D. Spielberger (Eds.), *Advances in Test Anxiety Research*, 2, 183-190. Lisse: Swets and Zeitlinger Earlbaum.

Sinha. P. (2002). *Yoga: Meaning, Values and Practice*. Mumbai: Jaico Publishing House.

Slavin, R.E. (1994). *Educatioral Psychology*. London: Allyn nad Bacon.

Spielberger, C.D., Gorsuch, R.L., & Lushene, R.E. (1970). *Manual for the State- Trait Anxiety Inventory*. Plato Alto, CA: Consulting Psychologists Press.

Sud, A., & Sud, P. (1997). *Manual of Test Anxiety inventory Hindi (TAI-H)*. Varanasi: Rupa Psychological Center.

विद्वत्-परिचय:

१. प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, सम्पादक गुरुकुल-शोध-भारती, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

३. डॉ. उमाकान्त यादव, रीडर संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

४. डॉ. सरोज नौटियाल, रीडर संस्कृत-विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, देहरादून एवं रेनू शुक्ला, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, देहरादून.

५. डॉ. जितेन्द्र कुमार, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, दयानन्द कालेज, अजमेर.

६. डॉ० हरीश्वर दीक्षित, उपाचार्य एवम् अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय सिगरामऊ, जौनपुर (उ०प्र०)-२२२१७५

७. डॉ. अमल चन्द्र राय वेदालंकार, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

८. डॉ. सुभाष चन्द्र शास्त्री, प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, भरतपुर. (राजस्थान)

९. डॉ. सत्यदेव निगमालंकार, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१०. डॉ. ऋतु शुक्ला, प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, पलही पट्टी, वाराणसी.

११. डॉ. स्नेहलता, प्रवक्ता संस्कृत एवं कार्यकारी प्राचार्या, एपीजीव सरस्वती पी.जी. कालेज, चरखी दादरी,

१२. प्रो. ईश्वर भारद्वाज, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं देवेन्द्र कुमार आर्य, शोधछात्र, देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१३. डॉ. हेमलता श्रीवास्तव, अतिथि प्रवक्ता दर्शन-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

१४. डॉ. देवीसिंह शोधछात्र, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

१५. डॉ. मृदुल जोशी, प्रवक्ता हिन्दी-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१६. डॉ. वीरेन्द्र अलंकार, रीडर संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ एवं सुषमा अलंकार, प्रवक्ता, एम. एम. कालेज,मुलाना अम्बाला.

१७. डॉ. विजयपालशास्त्री, प्रवाचकः राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थानम्, जयपुर परिसरः, त्रिवेणी नगर, जयपुर (राजस्थान).

१८. डॉ. कौशल्या चौहान, रीडर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला.

१९. डॉ. प्रकाश पन्त शोधछात्र, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२०. श्री महावीर नीर विद्यालङ्कार, पूर्व प्रधानाचार्य, गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय, हरिद्वार.

२१. डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य, रीडर दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२२. डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा, रीडर संस्कृत पंजाब विश्वविद्यालय, वी.वी.बी.आई.एस. एण्ड आई.एस. होशियारपुर (पंजाब) पंजाबी हस्तलिखित साहित्य पर रामायण का प्रभाव

२३. डॉ. सुनील जोशी, रीडर एवं अध्यक्ष, राजकीय आयुर्वैदिक कालेज, गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार.

२४. डॉ. रीटा भल्ला, अध्यक्ष योग-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला एवं डॉ. अनूप सूद मनोविज्ञान-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला.

निबन्ध भेजने वाले विद्वानों से निवेदन

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही अपठनीय लेख में लिखी हुई प्रति के आधार पर लेख प्रकाशित कराना सम्भव नहीं होगा।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाण एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये।
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- सभी विद्वानों से अनुरोध है कि वे गुरुकुल-शोध-भारती के लिये कम्प्यूटर से टंकण कराये गये शोध-निबन्ध ही भेजें, जिससे लेख तथा उसके उद्धरणों को शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके। साथ ही टंकण के समय **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत करने में सुमगता रहे।
- जो विद्वान् अपने शोधपत्र 'कृतिदेव 010' फोण्ट में टाइपिंग करने के उपरान्त सी.डी. बनवाकर प्रेषित करेंगे, उनके शोधनिबन्ध प्राथमिकता के आधार पर प्रकाशित किये जायेंगे।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति ही प्रकाशित करने के लिये भेजें।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तरांचल)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975